सम्मेलन पत्रिका

(शोध–त्रैमासिक)

भाग	:	११०, संख्या–३
आषाढ़–आश्विन	:	संवत् २०८२
जुलाई–सितम्बर	:	सन् २०२५

प्रधान सम्पादक

कुन्तक मिश्र

सम्पादक

रामकिशोर शर्मा

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज–३

ISSN : 2278-1773
पीयर रिव्यूड शोध पत्रिका

प्रकाशक
कुन्तक मिश्र
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज-३
दूरभाष (कार्यालय)- ०५३२-२५६४१९३, मो० : ९६९६३५६९८७

- सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचारों तथा प्रस्तुत किये गये तथ्यों से प्रकाशक व सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक का होगा।
- इस पत्रिका में विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित एवं अभिनिर्णित लेख प्रकाशित किये जाते हैं।

एक प्रति का मूल्य : २१० रु०
वार्षिक मूल्य : ८०० रु०

विदेश के लिए वार्षिक मूल्य : ४० डालर (डाक व्यय अतिरिक्त)

वार्षिक सदस्य बनने के लिए **८००.०० रु०** का ड्राफ्ट या पोस्टल-आर्डर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १२ सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज-३ के नाम भेजें। कृपया चेक या मनीआर्डर न भेजें।

मुद्रक :
सम्मेलन मुद्रणालय
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद-३

विषय-सूची

सम्पादकीय

क्र.सं.	आलेख	लेखक	पृष्ठ
	साहित्य आलेख		
१.	**सामासिक संस्कृति का आख्यान : काशी का अस्सी**	–डॉ० रमेश सिंह	६–१३
२.	**हिन्दी आलोचना में त्रिलोचन**	–डॉ० राज कुमार मीणा	१४–२१
३.	**धर्मवीर भारती कृत कनुप्रिया में राधा : नारी सजगता के नवीन आयाम**	–डॉ० कुलविन्दर कौर	२२–२७
४.	**कोणार्क का माहात्म्य**	–डॉ० महेन्द्र कुमार उपाध्याय	२८–३२
५.	**संस्कृत शास्त्रों में राष्ट्रचिन्तन की अवधारणा**	–डॉ० रामकृपाल	३३–४३
६.	**ममता कालिया की कहानियों में चित्रित नारी की समस्याएँ**	–डॉ० नवीनचन्द्र डी० वाघेला	४४–५५
७.	**निर्मला पुतुल के काव्य में प्रकृति चेतना**	–सुष्मिता वर्मा	५६–६०
८.	**गोपाल चतुर्वेदी के निबन्धों में राजनीतिक विसंगतियों पर व्यंग्यधर्मिता**	–प्रो० राजेश कुमार गर्ग एवं राहुल जायसवाल	६१–६७
९.	**आत्मकथाओं में चित्रित नारी का स्वरूप**	–सलमा खातुन	६८–७४
१०.	**भारतीय आदिवासी समाज का स्वातन्त्र्य बोध : इतिहास, परम्परा और जीवन-दर्शन का विश्लेषण**	–त्रिपुरेश गोंड	७५–८३
११.	**भारतीय सौन्दर्य बोध के विविध सोपान**	–सच्चिदानन्द मिश्र	८४–८९
१२.	**हिन्दी महिला यात्रासाहित्य में उभरता सितारा : अनुराधा बेनीवाल**	–गायत्री करापिया	९०–९७
१३.	**बौद्ध एवं जैन कला में निहित भारतीय सांस्कृतिक निरन्तरता के अध्ययन में वासुदेव शरण अग्रवाल का योगदान**	–रविशंकर सिंह पटेल	९८–१०४

१४. **सनातन संस्कृति और श्रीरामचरितमानस**	–आकाश शंकर	१०५–१११
१५. **नब्बे के दशक की हिन्दी कहानियों में वर्णित साम्प्रदायिकता का स्वरूप**	–अभिषेक कुमार यादव एवं डॉ० बीना यादव	११२–११८
१६. **स्त्री-जीवन-संघर्ष और नासिरा शर्मा की कहानियाँ**	–डॉ० चन्द्रिका चौधरी	११९–१२५
१७. **अकाल में उत्सव : आम किसान की व्यथा**	–रेशमा यादव	१२६–१३३
१८. **इम्तिहान से गुजरता हुआ नारी-जीवन**	–नीलम साव	१३४–१३७
१९. **सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में स्त्रियों की दशा एवं समाज की बदलती परिस्थितियाँ**	–अभिषेक रावत	१३८–१४३
२०. **साहित्य एवं सिनेमा में दलित दृष्टि**	–शेखर चौधरी	१४४–१४८

सम्पादकीय

'सम्मेलन पत्रिका' पं० मदन मोहन मालवीय, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के द्वारा महात्मा गाँधी की सहमति से १९१० में स्थापित संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित शोध-पत्रिका है। इसका प्रकाशन १९१३ से आरम्भ हुआ, तब से अनवरत यह पत्रिका प्रकाशित हो रही है। लगभग १०८ (एक सौ आठ) वर्षों में इसमें अनेक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व के शोध-पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। मालवीय जी विशेषांक, गाँधी-टण्डन विशेषांक, लोक-संस्कृति विशेषांक के अलावा जन्मशती के अवसर पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त,, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, भारतेन्दु शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, भारतेन्दु आदि लेखकों पर उच्चस्तरीय सामग्री से युक्त विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। पत्रिका की गरिमामयी परम्परा तथा स्तर को बनाये रखने के लिए सम्पादक की अपेक्षा लेखकों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है। आलेख यथासम्भव नवीन विषयों या ज्ञात तथ्यों की पुनर्व्याख्या से सम्बन्धित हों। एक या दो पुस्तकों से उतारकर आलेख न भेजें। शोध आलेख में उद्धृत कविताओं, मतों तथा अन्य उद्धरणों के लेखक का नाम, पुस्तक का नाम, पृष्ठ संख्या, संस्करण आदि का उल्लेख अवश्य करें। आप लोग इस उन्नत परम्परा के संरक्षण में अपना अमूल्य योगदान करेंगे।

सम्मेलन पत्रिका की नियम एवं शर्तें

(१) सम्मेलन पत्रिका के समस्त आलेख शोधार्थियों एवं प्राध्यापकों के लिए उपयोगी होने चाहिए।

(२) शोधार्थी अपने मौलिक आलेख को अपने शोध निर्देशकों से अग्रसारित कराकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय में प्रेषित कर सकते हैं।

(३) सम्मेलन की चयन समिति के पास सर्वाधिकार है कि वह आपके आलेख प्रकाशन को स्वीकृत/अस्वीकृत कर सकती है।

(४) शोधार्थी/प्राध्यापक अपने आलेख की हार्डकॉपी सम्मेलन कार्यालय में भेजें और अपने शोध आलेख (माइक्रोसॉफ्ट ऑफिस वर्ड २००७ सॉफ्टवेयर में कृतिदेव ०२१ में १६प्वाइंट में) टंकित कराकर तथा एक बार गम्भीरता से उसे पढ़कर, त्रुटियों को सुधार करके प्रकाशन हेतु प्रेषित करें, शोध आलेख की सॉफ्ट कॉपी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ईमेल hs.sammelan.alld@gmial.com पर भेजें।

(५) शोध आलेख ८ पृष्ठों से अधिक न हो।

(६) शोध आलेख के साथ अपना परिचय, पता, एवं सम्पर्क-सूत्र इत्यादि का उल्लेख होना चाहिए।

(७) आप अपने शोध आलेख साहित्य-विभाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन १२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज, उ०प्र०-२११००३ पर प्रेषित कर सकते हैं।

-रामकिशोर शर्मा

⊙

साहित्य आलेख

सामासिक संस्कृति का आख्यान : काशी का अस्सी

–डॉ० रमेश सिंह

काशीनाथ सिंह समकालीन कथा साहित्य के कालजयी कथाकार हैं। अध्ययन-अध्यापन एवं लेखनकार्य उन्होंने काशी में रहकर ही किया है। उनके साहित्य में काशी की सामासिक संस्कृति पूरी तरह से रच बस गयी है। उनके द्वारा लिखे गये निम्न उपन्यास हैं-अपना मोर्चा, रेहन पर रग्धू, महुआचरित, उपसंहार, काशी का अस्सी। कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ हैं- आदमीनामा, नई तारीख, सदी का सबसे बड़ा आदमी आदि। उनका उपन्यास 'काशी का अस्सी' अपने कथ्य और शिल्प में एकदम नया प्रयोग है। इस उपन्यास पर 'मोहल्ला अस्सी' नाम से फिल्म भी बन चुकी है। इसमें बनारस के एक छोटे से मोहल्ले, गंगा नदी के घाट और एक चाय की दुकान के माध्यम से भारत की आंतरिक सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समस्या का चित्रण किया गया है।

२००२ मे यह उपन्यास प्रकाशित हुआ था। इसमें बनारस के अस्सीघाट और अस्सी मुहल्ले से जुड़ी पाँच प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। कहानियों का संदर्भ १९९० के दशक की राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था है परन्तु वे आज भी प्रासंगिक हैं। भाषा, संस्कृति एवं पहनावे में आज भले ही विकास दिखायी दे रहा हो लेकिन सभी में काशी की अपनी अलग ही भाषा संस्कृति है। लेखक कथा के प्रारम्भ में ही यहाँ की भाषा, संस्कृति का परिचय दे देते हैं''-यह संस्मरण वयस्कों के लिए है, बच्चों और बूढों के लिए नहीं और उनके लिए भी नहीं जो यह नहीं जानते कि अस्सी और भाषा के बीच ननद-भौजाई और साली-बहनाई का रिश्ता है।''[1] पहनावे की यदि बात करें तो कमर में गमछा कन्धे पर लंगोट और बदन पर जनेऊ-यह यूनिफॉर्म है अस्सी का! हालांकि बम्बई-दिल्ली के चलते कपड़े-लत्ते की दुनिया में काफी प्रदूषण आ गया है। पैंट-शर्ट, जीन्स, सफारी आज विभिन्न प्रकार की पोशाकें आ गयी हैं लेकिन अस्सी का गमछा अभी अपनी जगह अडिग है।[2] हर-हर महादेव के साथ एक अश्लील गाली इनका सार्वजनिक अभिवादन है। मौजमस्ती, फक्कड़पन, गालियाँ भांग और पान यहाँ के जीवन का अंग हैं। पप्पू चाय की दूकान इनका केन्द्र बिन्दु है और तन्नी गुरु जैसे बिंदास पात्र। पोशाक के नाम पर गमछा, लंगोट, लुंगी और जनेऊ धारण किये हुए और पान चबाते हुए अपनी मस्ती में मस्त। भांग की मस्ती में एक दूसरे को गरियाते, गरमागर्म राजनीतिक बहसों

में उलझे लोग बनारस की जीवंत संस्कृति का प्रतीक हैं। उनके लिए दुनिया भर के नेता, विचारधारायें, संस्कृतियाँ सब ब्रह्माण्ड के छोटे-छोटे पिंड हैं और उस ब्रह्माण्ड का केन्द्र है अस्सी।

'काशी का अस्सी' के पात्र भारत के अलग-अलग राजनैतिक दलों से जुड़े हैं, जैसे-गिरिजेश राय-भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, नारायण मिश्र-भारतीय जनता पार्टी, अम्बिका सिह कभी कांग्रेस तो कभी जनता दल। इसके कुछ पात्र लगभग हर कहानी में मौजूद होकर अपने चरित्र की छाप छोड़ते हैं। इनमें मुख्य हैं-गया सिंह, तन्नी गुरू, रामजी राय और पूरा व्याख्यान प्रत्यक्षदर्शी की तरह सुनाते स्वयं काशीनाथ सिंह।[३]

एक तरफ यदि भारत की संस्कृति का आकर्षण है तो दूसरी तरफ काशी की संस्कृति का आकर्षण है। भारत पर प्राचीनकाल में यवनों, शकों, कुषाणों और हूणों ने आक्रमण किया, विजय पाया और यहीं की संस्कृति में घुल मिलकर अपनी पहचान खो दिया। काशी पर उसी तरह से अस्सी पर एक साथ कई राज्यों और जिलों से हमले हुए-आरा, सासाराम, भोजपुर, छपरा, बलिया, गाजीपुर, आजमगढ़, जौनपुर, गोरखपुर, देवरिया आदि के युवा लड़के युनिवर्सिटी में पढ़ने आए और चौराहे पर डेरा-डण्डा जमा लिए। जिस तरह से विदेशियों के आगमन से प्राचीनकाल में भारत में जातियों की संख्या में प्रगुणन हुआ उसी तरह से अस्सी पर इन सबके धावा मारने से आँचली सामासिक संस्कृति में वृद्धि हुई।[४]

'काशी का अस्सी' उपन्यास में मुख्य रूप से दो प्रकार की संस्कृति देखी जा सकती है। एक वैश्वीकरण के पहले के बनारस की संस्कृति और दूसरी उसके बाद की संस्कृति। वैश्वीकरण ने दुनिया को कुछ तो दिया लेकिन उसके साथ बहुत-कुछ छीन लिया। भूमंडलीकरण ने तमाम मनुष्य विरोधी रूढ़ियों और प्रथाओं को तोड़ा, लेकिन इसके साथ ही सामूहिकता की भावना को खत्म कर दिया। इसकी कथा में काशी की संस्कृति उसके क्षरण और समकालीन दौर की राजनीति और धर्म के आतंक एवं उसके द्वारा फैलाये जाने वाले उन्माद को ठेठ काशी के लहजे में उपन्यासकार ने वर्णित किया है।

प्राचीन काल के छः महानगरों एवं षोड्स महाजनपदों में काशी अर्थात् बनारस नगर का नाम मिलता है। यहाँ की प्राचीनकाल की धार्मिक सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियाँ आज तक जीवंत और गतिमान हैं। इसकी निरन्तरता में यहाँ की सांस्कृतिक समन्वय की प्रवृत्ति रही है। काशी का यह विराट समन्वयात्मक स्वरूप गंगा तट पर बने घरों में देखा जा सकता है। यहाँ की विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव और परम्परा का मूल कारण गंगा के तट पर उनकी स्थिति रही है। धार्मिक परम्परा में यहाँ यक्षगान एवं प्रकृतिपूजा की परम्पराओं का संबंध भी घाटों से रहा है। यहाँ पर सांस्कृतिक विविधता में एकता की परम्परा का व्यवहारिक रूप देखा

जा सकता है जो वर्तमान भारत के सामाजिक, धार्मिक और जातिगत कटुता की स्थिति में एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करती है। क्षेत्रीय संस्कृतियाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखते हुए काशी के परम्परागत रहन-सहन, लोकजीवन, आचार-विचार, पर्व-महोत्सव आदि से पूरी तरह घुलती मिलती हैं, जिसमें बनारस और बनारस की सांस्कृतिक परम्परा का समग्र रूप देखने को मिलता है।[५]

उपन्यास का प्रारम्भ बिल्कुल यूटोपिया की तरह लगता है। यह एक ऐसा मुहल्ला है जहाँ सभी खुश हैं। कोई भेदभाव नहीं है। कोई अतिरेक नहीं है। कोई विषमता भी नहीं है। इस मुहल्ले की अनोखी छटा है इसका बिंदासपन। गुरु यहाँ की नागरिकता का सरनेम है। तब लगता है अच्छा फक्कड़ाना अंदाज है। लेखक परिचय देता है-''न कोई सिंह न पांडे न जादो ना राम। सब गुरू। पैदा भैया वह भी गुरू जो मरा वह भी गुरु। सबसे बड़ा जनतंत्र है यह।'' अस्सी एक जगह मात्र नहीं, यह एक परिघटना है। ''धक्के देना और धक्के खाना, जलील करना और जलील होना, गालियाँ देना और गालियाँ पाना औघड़ संस्कृति है। अस्सी की नागरिकता के मौलिक अधिकार और कर्तव्य। इसके जनक संत कबीर रहे हैं और संस्थापक औधड़ कीनाराम। अस्सी वासी उसी औघड़ संस्कृति की जायज-नाजायज औलादें हैं। गालियाँ इस संस्कृति की राष्ट्रभाषा है जिसमें प्यार और आशीर्वाद का लेन-देन होता है।''

जब उत्तर प्रदेश में मुलायम और बिहार में लालू यादव सत्ता में आए तो दोनों ने इस भारत भूमि पर एक ऐसे यादव-शिरोमणि की खोज की जो विद्वान भी हो और समझदार भी। दोनो की नजर आकर चौथीराम पर टिकी जो बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे। उन्हें अपने-अपने राज्य के विश्वविद्यालय के लिए किसी कुलपति की जरुरत थी। ऐसा कुलपति जो अपना भी भला करे, उनका भी और बिरादरी का भी लेकिन चौथीराम अस्सी की संस्कृति में इतना घुल मिल गये थे कि यादव बनने को तैयार नहीं हुए। तब दोनों विरादर प्रेमी नेताओं को निराश होकर लौट जाना पड़ा था। यह काशी की सामासिक संस्कृति का यथार्थ उदाहरण था।[६]

होली के अवसर पर अस्सी की सामासिक संस्कृति देखते ही बनती है। यहाँ के कवि-महाकवि जिस त्याग तपस्या और साधना से होली की अमर कविताएँ बनाते हैं उसमें तुलसी जैसे-महाकवि भी शरमाते नजर आते हैं। इनकी कविता में भंगायन (भंग) रंगापन (रंग), गंगायन (गंग), लंकायन (लंका) आदि को मिलाकर फेंट दिया जाता है और फिर उसमें खण्डकाव्य, महाकाव्य तैयार किए जाते हैं। ''अस्सी का अपना'' शब्द-कल्पद्रुम है। इसके पास और कुछ नहीं, शब्दों की ही खेती है। इनके 'फार्म हाउस' में दो विशेष शब्दों की खेती होती है-व्यवस्था और कार्यक्रम। कार्यक्रम माने दारू। बोतल खोलिए, गिलास में ढालिए, चुस्की

मारिए! कार्यक्रम चलाइए-देश को अस्थिर, अव्यवस्थित और तबाह कीजिए। अगर मुल्क को व्यवस्थित और स्थिर रखना हो, तबाही और बर्बादी से बचाना हो तो भॉग लीजिए।''[७]

१९९० के दशक में देश की राजनीति में ऐसा भूचाल आया था कि संपूर्ण देश में सामाजिक दशा आलोड़न-विलोड़न की स्थिति में आ गयी थी। एक तरफ मंडल-कमंडल की राजनीति तो दूसरी साम्प्रदायिक अलगाववाद। कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, जनता दल जैसे राजनैतिक दल आपस में टकरा रहे थे। देश की राजनीति में विश्वनाथ प्रताप सिंह, लालू यादव, मुलायम सिंह यादव, नीतीश कुमार, शरद यादव, रामविलास पासवान जैसे नेताओं का उद्‌भव हुआ था। उस राजनैतिक विक्षोभ का सीधा प्रभाव अस्सी मुहल्लें की राजनीति में पड़ रहा था। हरिद्वार, रामवचन पाण्डे, गया सिंह, रामजी राय जैसे प्रतीकात्मक चरित्र अस्सी पर एकत्र होकर अलग-अलग दलों का बखान करते थे। इस तरह के घटनाक्रमों को उपन्यासकार ने काशी के अस्सी के साथ बहुत ही अच्छी तरह से समायोजित किया है।

इस उपन्यास की हर कहानी समाज एवं राजनीति के किसी भी पहलू पर कटाक्ष करती है। कुछ बातें लेखक द्वारा तथा कुछ पात्रों के आपस के बातचीत से प्रस्तुत होती हैं। प्रत्येक राजनीतिक पार्टी और सामाजिक- सांस्कृतिक संगठन पर पात्रों के माध्यम से टिप्पणी की गयी है। कौन सी पार्टी किसे टिकट दे, इसका फैसला प्रत्याशी की जेब देखकर होना, बाबरी गिरने पर रातों-रात हर मस्जिद पर लाउड-स्पीकरों का लग जाना और धर्मनिरपेक्षता की राजनीति जैसे कई विषयों का उल्लेख काशीनाथ सिंह के इस उपन्यास में मिलता है। जयललिता, हर्षद मेहता बोफोर्स, फेयर-फैक्स जैसे घोटालों पर गरमा-गरम बहस छिड़ जाती है।

'संतों, असन्तों और घोघा बसन्तों का अस्सी' कहानी में कथाकार ने समाज के सभी वर्ग के लोगों के समायोजन का बहुत ही अच्छा चित्रण किया है। भारत की प्राचीन नगरियों में तथा महाजनपदों में काशी नगर का नाम आता है। प्राचीन काल से देश के कोने-कोने से लोग मोक्ष की आस में यहाँ आकर बस जाते थे। विदेशी लोगों का भी इस नगर से बहुत लगाव रहा है। इस कारण से इस नगर की संस्कृति में सामासिकता आ गयी है-''सतों, जहाँ पानी, वहाँ प्रानी! जहाँ घाट, वहीं हाट! इतिहास यही कहता है। गंगा के गर्भ से पैदा हुआ है यह नगर। गंगा इसकी माँ है। नगर की तीन-चौथाई आबादी उसी के सहारे है। पांडे, पुरोहित, नाई, धोबी, मछुवारे, साधू, संत, भिखमंगे गाइड-जाने कितने पेशे और कितनी जाति के लोग उसी के सहारे सदियों से जी-खा रहे हैं। स्वच्छ गंगा अभियान की देसी-विदेशी, सरकारी-गैरसरकारी संस्थाएँ भी इसे तबीयत से खा-पी रही हैं।''[८]

'पाण्डे कौन कुमति तोहि लागी' कहानी में बहुत ही अच्छा व्यंग्य किया गया है। अति रूढ़िवादी शास्त्रीजी भी कैसे पड़ोसी की समृद्धि से कुंठित होकर विदेशियों की आवभगत में

पाखंड रचते हैं? ऐसा करने के लिए वे कैसे अपने धर्मनिपुण मन को बहलाते हैं? यहाँ अपना उल्लू सीधा करने के लिए कैसे हम अपने स्वार्थ को युक्तिसंगत करते हैं? ''आस्था'' मूत्र तक पीने को प्रेरित करती है, लेकिन ''पाखंड'' दलित के हाथों साफ पानी भी नहीं पीने देता।''

भारत में भूमण्डलीकरण के दौरान पश्चिमी समाज सांस्कृतिक कौतूहल के साथ आता है। वैश्वीकरण का सीधा प्रभाव यहाँ की संस्कृति में देखा जा सकता है। इस उपन्यास के पात्र गया सिंह पश्चिमी संस्कृति पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं-''क्या हो रहा है गलियों में देखा है कभी? डॉलर का धन्धा! दीनबन्धु, डॉलर अमरीका की जीभ है। वह शुरु में ऐसे ही किसी मुल्क को चाटना शुरु करता है जैसे गाय बछड़े को चाटती है-प्यार के साथ। बाद में जब चमड़ी छिलने लगती है, दर्द शुरु हो जाता है, जीभ पर कांटे उभरते दिखाई पड़ने लगते हैं, जबड़े चलने की आवाज सुनाई पड़ती है तब पता चलता है कि यह जीभ गाय की नहीं किसी और जानवर की है। और क्या समझते हो जो देखते-देखते देश को चबा गया हो और उसमें भी सोवियत रूस जैसा देश, उसके लिए नगर मोहल्ला क्या चीज है?'' पश्चिम जिस प्रकार से पूरब में अपने लिए अवसर सृजित कर रहा है, ठीक वही पूरब के लिए पश्चिम में नहीं हो पा रहा है। यहाँ की औपनिवेशिक मानसिकता उनकी हर अति को चुपचाप शिरोधार्य करने के लिए विवस है। उपन्यास में गया सिंह इन विदेशियों पर एक जगह व्यंग्य करते हैं और कहते हैं-''उन्हे जितनी बार आना-जाना हो आयें-जाएँ, जब तक रहना हो तब तक रहें, लेकिन हम नहीं। हमारा घर उनका घर है, लेकिन उनका घर उन्हीं का घर है, हमारा तुम्हारा नहीं... ..अभी क्या देख रहे हो थोड़े दिन बाद यही बोलेगें कि अस्सी जर्जर हो रहा है, ढह रहा है, मर रहा है, हमे दे दो तो नया कर दें-एकदम चमचम। कल बनारस को चमकायेंगे, परसों दिल्ली को ठीक करेगें, नरसों पूरे देश को ही गोद ले लेंगे और झुलायेंगे-खेलायेंगे अपनी गोद में। यह बाद में पता चलेगा कि हम किसकी गोद में हैं-जसोदा मईया की कि पूतना मईया की।''[९]

समय और 'टेक्नोलॉजी के साथ आने वाले सामाजिक संबंधों में बदलाव और भौतिक सुख-सुविधाओं की लत लगने से उजड़ते तान-बाने पर विरहा रूपी कहानी सुनाकर निशाना साधा गया है। समृद्धि की प्यास लगने के पीछे 'मल्टीनेशनल' पूँजीवाद का हाथ बताते हुए कहते हैं-''खोज चलती रही और सरकार देखती रही कि बाहर का पानी गन्दा बोतल का पानी साफ, बाहर की हवा मैली, डिब्बे की हवा साफ, बाहर की धूप पस्त, अन्दर की मस्त, बाहर की ठण्ड अंड-बंड भीतर की चाक चौबन्द, नदी की गंगा जहर, बोतल की पेप्सी लहर.....।''[१०]

अस्सी मुहल्ले की मिली-जुली संस्कृति उत्तर-आधुनिकता के दबाव के साथ फीकी पड़ती जा रही है। काशीनाथ सिंह ने कृति के एक अंश में उसका भी चित्रण किया है। विचार धाराओं के भिन्न होते हुए भी यारियाँ होना, वाचाल प्रवृति की चाय की दुकान पर अधिकायत,

काशी के घाटों का वाद व्यवहार और हर छोटी-बड़ी बात पर बहस करने की फुर्सत-यह सब शायद अब घाटों और नुक्कड़ की दूकानों से निकलकर व्हाट्सप्स ग्रुप और दफ्तर की टी-ब्रेक्स में जा बसी हैं। परन्तु यह उपन्यास भीड़ और दौड़ के इस युग में हमें ठहरने का संदेश देता है। सिमटते दायरों की ओर ध्यान आकृष्ट कर एक प्रयास करता है उन्हें और सिमटने से रोकने का।

अस्सी संगम पर केवल भारतीय ही नहीं बल्कि अमेरिकी सपनों से मोहभंग का शिकार हुए भी अस्सी के घाट पर मोक्ष पाते हैं। यहाँ का लोकजीवन सबसे अलग है। यहाँ पर वैमनस्य, कटुता और जातिगत विभाजन के रहते हुए भी अस्सी अपनी सामूहिकता को खत्म नहीं होने देता। शंकराचार्य से टकराने वाला शहर है यह, जिसके आकाश में धर्मध्वजा फहराती रहती है। अस्सी अष्टाध्यायी है और काशी इसका भाष्य है। अपने समय की सम्पूर्ण खबरें इस उपन्यास में हैं। इससे जिन्दगी के बदलते टुकडों को देखा जा सकता है। प्रजातन्त्र का असली चेहरा भी यहीं नजर आता है। एक रिक्शेवाला भी अपनी बात को प्रोफेसर साहब को समझाते नजर आता है। अस्सी का राग इस देश का वह राग है जिसमें हर तरह के षडयंत्र और दमघोटू व्यवस्था के बीच खिल खिलाते हुए आम आदमी की संघर्ष कथा को आगे बढ़ाता है।

काशी का अस्सी उपन्यास की अपनी भाषा है। इसका कोई विकल्प नहीं है। इसकी भाषा में व्यंग्य का पैनापन है जो इसकी जान है। आत्मोहास और आत्म व्यंग्य की विशिष्टता ने व्यंग्य की मारक क्षमता को और भी तीखा और प्रभावोत्पादक बना दिया है। सबसे खास बात इसकी 'फक्कड़' भाषा है। यह आत्मविश्वास के साथ बोलने का उनका बेपरवाह तरीका है। भाषा देहाती है। और इसमें बहुत सारे अपशब्दों का इस्तेमाल किया गया है। लेकिन तब भी कहीं न कहीं भाषा में मिठास बनी रहती है।

यदि निष्कर्म रूप में देखें तो 'काशी का अस्सी' एक ऐसी औपन्यासिक कृति है जिसमें अस्सी चौराहे पर पप्पू चाय की दूकान कई प्रकार की संस्कृतियों की ग्राहक बनती है। पूर्वांचल एवं बिहार की संस्कृति तथा राजनीति चाय के साथ उपस्थित होती है। बनारस एक शहर भी है, गाँव भी है और एक कस्बा भी है। यहाँ लोक-भावनाओं और संवेदनाओं का धनीभूत देखा जा सकता है।

उपन्यास के अंत में लेखक ने उत्तर-आधुनिकता का परिचय दिया है जिसमें पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और अंधा-धुंध मशीनीकरण के कारण धीरे-धीरे अस्सी मुहल्ले की वह हँसी गायब हो रही है। वही चौराहा, वही गलियाँ, वे ही दुकाने, वे ही मकान। लेकिन वे गुमसुम होने शुरू हुए तो होते ही चले गए। एक तो वे सभी पहले की तरह एक समय पर एक साथ जुट नहीं पाते और जुट भी जाते तो न कोई छेड़-छाड़, न गाली-गलौज, न हँसी-मजाक, टेलीविजन,

कम्प्यूटर गेम्स, विडियों गेम्स ने लोगों को उन्हीं के घरों में कैद कर दिया है। अब हंसने के लिए आदमी को किसी यंत्र का सहारा लेना पड़ता है।''११

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० ११
२. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० ११
३. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० १२
४. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० १८
५. शोध आलेख! काशी का अस्सी! एक आलोचनात्मक अध्ययन-डॉ० राम प्रकाश सिंह।
६. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० ४२
७. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० ५२
८. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० ६६
९. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० ११२
१०. काशी का अस्सी-पुस्तक समीक्षा-इण्टरनेट से।
११. उपन्यास! काशी का अस्सी-काशी नाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, २००६, पृ० १५३

-असि० प्रोफेसर-हिन्दी विभाग
एस०पी०एम०पी०जी० कालेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
मो० ८७०७६६५६२३
Email: rs755354@gmail.com

हिन्दी आलोचना में त्रिलोचन

–डॉ० राज कुमार मीणा

त्रिलोचन उस काल और परिवेश के कवि हैं जब प्रगतिशील चिन्तन को समकालीन फैशन के विरूद्ध समझा जाता था। अपने दौर के अन्य प्रगति- चेतनासम्पन्न कवियों- निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध, शमशेर आदि की भाँति त्रिलोचन भी पुरानी मान्यताओं को तोड़ने के क्रम में देशकाल से टकराते हैं। अपने समय में त्रिलोचन बहिष्कृत होने के खतरों को उठाते हुए भी उस परम्परा के विकास में संलग्न रहे जो रूढ़ियों का परित्याग करती हुई एक ऐसा रूप लेकर सँवरती है जो परम्परागत होकर भी सही अर्थों तथा सम्बन्धों में नयी थी। इन्हें स्वाधीन भारत के अग्रगण्य जनवादी कवियों में गिना जाता है। इनके काव्यवृत्त का केन्द्र 'लोक' है। धरती (१९४५), गुलाब और बुलबुल (१९५६), दिगन्त (१९५७), ताप के ताए हुए दिन (१९८०), शब्द (१९८०), उस जनपद का कवि हूँ (१९८१), अरधान (१९८४), तुम्हें सौंपता हूँ (१९८५), अनकही भी कुछ कहनी है (१९८५) तथा सबका अपना आकाश (१९८७) उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं।

त्रिलोचन अपनी कविताओं में स्वानुभूत जीवन की अभिव्यक्ति के साथ आम लोगों के जीवन और भविष्य को लेकर चिन्तित थे। जनसरोकार उनकी कविता का मूल भाव था। वस्तुतः त्रिलोचन की कविता दुःख और संघर्षों के बीच निरन्तर आस्था और अनाहत के स्वर की कविता है। वह गहरे अर्थों में मानवीय चरित्र के उन्नयन की कविता है। त्रिलोकन की कविता हिन्दी की उस जातीय परम्परा का सहज विकास है, 'जिनकी सांसो को आराम नहीं था, और जिन्होंने सारा जीवन समाज का कल्मष धोने में लगा दिया।''

भाव उन्हीं का सबका है जो थे अभावमय,
पर अभाव से दबे नहीं जागे स्वभावमय।

आम-जनजीवन से जुड़कर लिखने वाले 'त्रिलोचन'को हिन्दी आलोचना में वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ जिसके वह हकदार थे। यद्यपि इनको केन्द्र में रखकर बहुत ही गिने-चुने आलोचकों ने अपनी लेखनी चलाई है। तथापि इन पर कृपा-दृष्टि डालने वाले इन लेखकों के नजरिए से इन्हें (त्रिलोचन) देखना लाज़मी है।

इसकी शुरूआत गजानन माधव मुक्तिबोध से करते हैं। ये इनकी आलोचना का आधार

काव्य-संग्रह 'धरती' को बनाते हैं। और यह स्वीकार करते हैं कि इनके गीतों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इनका मानना है कि त्रिलोचन में प्रगतिशीलता तो है परन्तु संयमित तथा सन्तुलित रूप में, जो उनके जीवन के अनुभवों से मँज-घिसकर सामने आती है, न कि चीख-पुकार या अट्टहास के साथ। वे इन्हें (त्रिलोचन) गहरे आत्मविश्वासी तथा सामाजिक लक्ष्य के प्रति ईमानदार व्यक्ति के रूप में देखते हैं, जिसमें नैतिक सच्चाई की प्रबलता है और यह नैतिक सच्चाई काव्य में उपदेश के रूप में न आकर मानवीय गुण के रूप में आई है। मुक्तिबोध 'धरती' काव्य संग्रह में व्याप्त जीवन संघर्ष को महत्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं कि ''इस संघर्ष की वास्तविकता उसके मन में इतनी गहरी गयी है कि वह न प्रलयवादी रोमांटिक स्वप्नों में डूबता है, और न किसी समझौते की भावना से परिचालित हो आदर्शवादी तलैया को अपना समुद्र समझता है। वह संघर्ष इतना यथार्थ है कि उसमें सफलता के लिए धीर-गम्भीर व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जिसकी परिकल्पना की कसौटी पर वह अपने व्यक्तित्व को कसना चाहता है, और अपने मन को उसके बारे में उपदेश दिया करता है, समझाता रहता है।''२

आगे मुक्तिबोध 'धरती' में चित्रित किसानों और प्रकृति पर भी विचार करते हैं और कहते हैं कि किसानों पर लिखते समय उनकी भाव-स्थिति नीति प्रधान से हटकर भाव-प्रधान हो जाती है तथा प्रकृति बाह्य वास्तविक रूप में आती है न कि अन्तर्मुख चित्रात्मक अंकन के रूपमें। इनकी भाषा सुपरिष्कृत तथा गीतात्मक है। वे कहते हैं कि त्रिलोचन हारना नही जानते वह सदा जय-पथ पर चलने के लिए आतुर रहते हैं और उन्हीं की पंक्तियों से उनकी इस भावना को प्रकट करते हैं-

''आज का यह तिमिर करता भक्ति-दान
समझने मानव लगा है शक्ति-ज्ञान
स्वत्व, जीवन प्रगति, सामंजस्य, मान।''

फणीश्वरनाथ रेणु एक कथाकार की हैसियत से त्रिलोचन के सम्मुख प्रस्तुत होते हैं और कहते हैं-''कविता मेरे लिए समझने बूझने या समझाने का विषय नहीं, जीने का विषय है। कवि नहीं हो सका, यह कसक सदा कलेजे में सालती रहेगी। और अगर कहीं कवि हो जाता तो, त्रिलोचन नहीं हो पाने का मलाल जीवन-भर रहता।''[४] वे त्रिलोचन को 'शब्द योगी' कहकर सम्बोधित करते हैं। उसके कुछ सॉनेट हद-अनहद की सीमा को लाँघकर-साखी, सबद, रमैनी की कोटि के हो गए हैं। त्रिलोचन ने बहुत कम लिखा है, किन्तु मेरे लिए त्रिलोचन का 'होना' मात्र उसकी रचनाओं से 'अधिक' है। अतएव 'सुपर मार्केट डिपार्टमेंट स्टोर-संस्कृति' के बटखरों से त्रिलोचन को तोलने के लिए तुले हुए लघु गुरू आलोचकों से कभी बहस नहीं करना चाहता। वे त्रिलोचन का सही ढंग से मूल्यांकन किए जाने की मांग करते हैं।

मलयज इन्हें औसत भारतीयता का कवि मानते हुए उनकी कविता को ठेठ भारतीय जन की कविता मानते हैं। जिसमें इतिहास बोध है, जो नितान्त निजी अनुभूति तथा संवेदना को सार्वलौकिक तथा सार्वभौमिक रूप में प्रस्तुत करती है। त्रिलोचन की कविता जीवन-संघर्ष को अत्यन्त आकुलता तथा ज्वलन्तता के साथ प्रस्तुत न करके अत्यन्त धीरज के साथ सामने रखती है। मलयज यह मानते हैं कि इनमें जो सहजता और भीतरी दृढ़ता है वह किसी किताबी दर्शन से उत्पन्न न होकर उनके धरती से जुड़े होने के कारण है, जिसमें समर्पण, आस्था, अनुराग और मानव करूणा की विनयशीलता है। त्रिलोचन मानव अनुभूतियों को उसकी मार्मिकता तथा सम्पन्नता के साथ पकड़कर कला में प्रस्तुत करते हैं। ''हिन्दी में शायद त्रिलोचन ही एकमात्र ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपने को लोक-जीवन से पूरी तरह जोड़ लिया है, सौन्दर्य की एक अन्तःगरिमा के साथ सृजन के आह्लादकारी अनुभव के साथ, रचना की एक बराबर की साझेदारी के साथ। त्रिलोचन के लिए रचना किसी तनाव से मुक्त होने में नहीं, बल्कि जीवन का कुछ खोजने, पाने और फिर उसे बाँट देने में होती।''[५] वे त्रिलोचन की कविता के शिल्प पर कहते हैं कि उनकी कविता में इस तरह का कसाव होता है कि वह एक निश्चित प्रवाह के तहत एक पथ पर संचालित होती है और त्रिलोचन उसे कहीं से भी भटकने नहीं देते। इनकी कविता की भाषा को वे परम्परा में बीज रूप से विकसित होने वाली भाषा मानते हैं जिसमें बिखराव की कोई सम्भावना नहीं रहती हैं।

रामविलास शर्मा इनमें आधुनिकता तथा परम्पराबोध का समन्वय देखते हैं और इनकी कविता को 'नई कविता' के समक्ष 'प्रतिकविता' कहते हैं। त्रिलोचन की कविता में जहाँ मजदूर, किसान के दुःख दर्द चित्रित हैं, वहीं नई कविता ने इन्हें अपनी परिधि से बाहर कर दिया है। रामविलास शर्मा ने त्रिलोचन को निराला तथा तुलसी से जोड़कर देखा है। वे कहते हैं कि निराला को औरो ने भी देखा लेकिन उनसे कुछ दूर हटकर लेकिन त्रिलोचन उन्हें आत्मसात करके निरालामय हो जाते हैं। तुलसीदास से भाषा के स्तर पर जुड़े होने के साथ ही त्रिलोचन भावमयी मर्यादा भी वहीं से ग्रहण करते हैं। ये त्रिलोचन को साहित्य की परम्परा का अनुयायी मानते हैं और इनकी कविता को हिन्दू जाति की संघर्षशील चेतना को सींचने वाली मानते हैं। त्रिलोचन जातीय एकता का समर्थन भी करते हैं। त्रिलोचन को घुमन्तू कवि मानते हैं और कहते हैं कि ''यात्रा, पथ, पथिक, मंजिल-इन सब पर बहुत कवियों ने लिखा है, त्रिलोचन की कविता में ये अलंकारों की तरह नहीं है, प्रतीक नहीं है। वे चलने के भौतिक श्रम से सम्बद्ध है।''[६] अंत में रामविलास शर्मा, त्रिलोचन को हिन्दी कविता की एक धारा का प्रतिनिधि मानते हैं जिस पर वे अकेले अग्रसर न होकर तुलसी, निराला, केदार और नागार्जुन के साथ हैं। शमशेर बहादुर सिंह ने त्रिलोचन पर बहुत ही कम शब्दों बहुत कुछ लिखा है। ये त्रिलोचन

की सृजन क्षमता को अपार, अकूत तथा अतुलनीय मानते हुए कहते हैं कि इनकी कविता देखने में अत्यन्त सामान्य प्रतीत होती है, परन्तु उनके भाव सामान्य नहीं होते हैं। उनमें भाव की अनेक परतें छिपी रहती हैं, जिसका अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता।

नामवर सिंह त्रिलोचन के लिए नए काव्यशास्त्र की रचना करते हैं। वे कवि को, 'कवि' के साथ शास्त्री कहकर भी संबोधित करते हैं। त्रिलोचन के शब्दमोह को वे अज्ञेय की भांति शब्दमोह न कहकर शब्द का लगाव कहते हैं, जो उनकी कविता में दिखाई देता है। वे त्रिलोचन को गैर आधुनिक ही नहीं बल्कि प्राग आधुनिक मानते हैं जिनमें न आधुनिकता की पहुँच है और न ही 'प्रगति', 'प्रयोग' के आधुनिकतावादी कर्मकाण्डों का सरोकार है। त्रिलोचन की भाषा के सम्बन्ध में उनका मत है कि उनकी भाषा गढ़ी हुई न होकर जीवन्त है, जिसमें चेतन के साथ जड़ भी जुड़ा हुआ है, जिसके माध्यम से पूरी सत्ता की अभिन्नतम अभिव्यक्ति हुई है। वह इनकी 'चम्पा' नामक कविता के आधार पर इनकी कविता को ठेठ हिन्दी की कविता करार देते हैं और 'नगई महरा' को इनकी प्रौढ़ कृति मानते हैं, जो चम्पा से अधिक सघन, समृद्ध और जीवन्त कविता हैं। इन्होंने यह दिखाया है कि त्रिलोचन किस प्रकार जनता की उमंग की अभिव्यक्ति करते हैं। नामवर सिंह का मानना है कि वे लोकबोली का संस्कार करते हैं और तुलसी के अनुयायी के रूप में सामने आते हैं। वे उन्हें अवध का लोककवि न मानकर काशी का जनकवि मानते हैं। वे इनकी कविताओं में आत्माभिव्यक्ति देखते हैं और यह मानते हैं इनकी कविता में की गयी आत्मचर्चा के आधार पर इनका आत्मचरित तैयार किया जा सकता है और इस तरह की आत्मचर्चा अन्य किसी कवि में दिखाई नहीं देती। त्रिलोचन के एक ही तरह के सॉनेट में इन्हें विविधता भी नजर आ जाती है। इनके प्रकृति चित्रण को नामवर जी किसान चेतना से प्रेरित मानते हैं। मलयज द्वारा की गयी त्रिलोचन की प्रशंसा में भी इन्हें संदेह नजर आता है। त्रिलोचन के 'महाकुंभ' की तुलना निर्मल वर्मा के रिपोर्ताज 'सुलगती टहनी' से करते हैं और एक में औसत भारतीयता देखते हैं, तो दूसरे में 'विशिष्ट' मर्मस्पर्शी उक्तियों के आधार पर 'क्लासिकी मर्यादा' देखते हैं। और अन्ततः उनके शब्दों में त्रिलोचन-**"नहीं हूँ किसी का भी प्रिय कवि मैं, त्रिलोचन ने जब कहा था तब कहा था। यह बात सन् ६४ की है। आज वे अच्छी तरह जानते है। वे कितनों के प्रिय कवि हैं- बल्कि कुछ के तो सबसे प्रिय कवि।"**[७]

केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन को एक खास तरह का आधुनिक कवि मानते हैं, जो आधुनिकता के सभी-प्रतिमानों को ख़ारिज करता हुआ आधुनिक है। त्रिलोचन की कविता को वे ठोस जमीन तथा ठेठ भाषा से जुड़ी हुई मानते हैं। 'ताप के ताए हुए दिन' की कविताओं के आधार पर इन्हें तुलसी तथा कबीर से जुड़ा हुआ मानते हैं, जिनकी काव्य संवेदना तथा

भाषा त्रिलोचन की कविता में दृष्टिगोचर होती है। त्रिलोचन को वे समकालीन हिन्दी कविता में वही स्थान प्रदान करते हैं जो अंग्रेजी कविता में टामस हार्डी को प्राप्त है। क्योंकि दोनों ही बहुत गहरे अर्थों में अपनी सांस्कृतिक तथा आंचलिक मिट्टी से जुड़े हुए हैं। वे त्रिलोचन को प्रगतिशील आंदोलन के केन्द्र में न मानते हुए भी उन्हें गहरे अर्थों में प्रगतिशील मानते हैं, जो शांत-गंभीर मैदानी नदी के समान है, जिसमें उद्वेलन सदा बहुत गहराई में होता है। इनकी 'नगई महरा' नामक कविता का विश्लेषण करते हुए उसे वर्णनात्मक मानते हैं, जिसमें नाटकीय या महत्त्वपूर्ण कुछ भी घटित नहीं होता परन्तु उसमें एक पूरी दुनियाँ है, जहाँ युद्ध चल रहा हैं। इनका मानना है कि त्रिलोचन अपनी कविता में प्रतीकों का प्रयोग नहीं करते अपितु उसके स्थान पर वस्तुपरक चित्रण करते हैं। 'नगई महरा' में केदारनाथ जी को तथ्यात्मक रूप में 'निराला' का अनुसरण दिखाई देता है।

मैनेजर पाण्डेय ने त्रिलोचन की काव्य संवेदना का बहुत गंभीर विश्लेष्ण किया है। इनका कहना है कि शब्दों का अर्थ भ्रष्ट करने में जितना हाथ राजनीति का होता है उतना ही साहित्य का भी होता है। लेकिन त्रिलोचन ने इसकी सही अर्थों में रक्षा की है। अन्य के लिए जहाँ 'संघर्ष' 'विशेषण' है वहीं इनके लिए 'संघर्ष' 'संज्ञा' बन जाता है। अन्य कवियों की अभिव्यक्ति में जो दुःख तथा सजीवता नहीं दिखाई देती, वह त्रिलोचन में परिलक्षित होती है। इनकी कविता में किसान चेतना के माध्यम से मानव मुक्ति का राग दिखाई देता है। त्रिलोचन पर लिखने के साथ ही पाण्डेय जी रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा रामविलास शर्मा पर टिप्पणी करते हैं, इनकी पुस्तकों 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास' तथा 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में कहीं भी त्रिलोचन का जिक्र नहीं किया गया है। त्रिलोचन की कविता में इन्हें कहीं भी नयी कविता का प्रभाव नहीं दिखाई देता है। जबकि अन्य प्रगतिवादी कवि नयी कविता के करीब जा रहे थे, ऐसे समय में भी त्रिलोचन अपनी कविता की स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करते रहे। इनके यथार्थवाद को दूसरे कवियों के यथार्थवाद से अलग मानते हैं, जिसमें भावुकता, आशावाद, कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है बल्कि जनशक्ति में आस्था, संघर्ष के लिए आह्वान तथा मुक्ति आंदोलन के गीत सुनाई देते हैं। त्रिलोचन को उस दौर के अन्य किसान चेतना प्रेरित कवियों से अलगाते हुए उनमें सजग किसान दृष्टि देखते हैं, जो उन्हें उस जीवन को जीते तथा समझते हुए प्राप्त हुई थी। वे किसान जीवन को समग्रता में देखते हैं। मैनेजर पाण्डेय इनके प्रकृति वर्णन को मानवीय संदर्भ से जुड़ा हुआ मानते हैं। त्रिलोचन के सॉनेट को आगरा के किले के उस नग के समान मानते हैं जिसमें ताजमहल का पूरा सौन्दर्य प्रतिबिम्बित होता है और उसके सौन्दर्य को टुकड़ो में विभाजित करके नहीं समझा जा सकता।

त्रिलोचन के प्रेम वर्णन की तुलना शमशेर से करते हुए वे इसे रूढ़ि और रीति से मुक्त मानते हैं, जिसमें कोई दुविधा या किसी की परवाह नहीं। त्रिलोचन की 'नगई महरा' कविता को मिथक, फैण्टेसी, रूपक और अमूर्तन के घटाटोप से मुक्त जन-जीवन के यथार्थ और ठोस अनुभवों की भूमि से जुड़ी हुई मानते हैं तथा इनके नायक को 'गोदान' के नायक 'होरी' के समकक्ष प्रतिष्ठित करते हैं। त्रिलोचन को घटनाओं का कवि न मानकर मूल्यों का कवि मानते हैं, जो अपनी कविता में चित्रात्मक वर्णन न करके मानवीय मूल्यों की व्यंजना करता है।

परमानन्द श्रीवास्तव त्रिलोचन की आलोचना में बरती गई रूखाई पर सवाल उठाते हैं और यह मानते हैं कि आलोचक इनकी कविता में औसत मानदण्डों का प्रयोग करते हुए राजनीति और कला ढूँढते रहे और इस आधार पर इन्हें नकार दिया गया, जबकि इनके काव्य-मर्म तक पहुँचने के लिए इनकी कविता में सीधे जीवन की खोज की जानी चाहिए। त्रिलोचन की कविता के 'शब्दों' में परमानन्द श्रीवास्तव को जीवन दिखाई देता है और आलोचकों के समान ये भी त्रिलोचन पर गालिब, तुलसी और निराला के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। त्रिलोचन की शब्द योजना के आधार पर इन्हें, इनके समकालीन नागार्जुन के करीब मानते हैं। विष्णु चन्द शर्मा देश में बढ़ती साम्प्रदायिकता पर प्रहार करते हुए त्रिलोचन की सर्वधर्म समभाव दृष्टि पर कहते हैं-''जो लोग सारे भारत को धर्म विनिर्मित अंधकार में दफना रहे हैं- वह ईसाईयों और उनके चर्च, मुसलमान और उनकी मस्जिद को गिराकर एक भगवा भारत का अंधकार युग लाना चाहते हैं। जबकि उनसे लगातार लड़ते हुए त्रिलोचन का कवि कबीर, जायसी, तुलसी, प्रेमचन्द, निराला का संदेशवाहक कवि है। वह नई पीढ़ी में आगामी मनुष्य पर अटूट आस्था पैदा करते हैं।''[८] वे मानते हैं कि त्रिलोचन की यही धारणा उनके पूरे काव्य-जीवन में बरकरार रही।

राजेश जोशी त्रिलोचन की भाषा और शिल्प की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि बातचीत के दौरान भले ही त्रिलोचन इधर-उधर बहक जाएँ, लेकिन कविता के क्षेत्र में अत्यन्त सावधान तथा सतर्क नजर आते हैं, जहाँ गलती के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। "शिल्प के प्रति बहुत सजग। लगभग क्लासकीय अनुशासन सानेट गीत या छंद में लिखी गयी कविता में वो लगाम ऐसी कसी-कसी सी है कि कविता का घोड़ा अपने पास मंडराती मक्खी भी उड़ाना चाहे तो भी गरदन न झटक पाए।''[९] विश्वनाथ त्रिपाठी त्रिलोचन को निराला के बाद सबसे बड़ा किंवदंती पुरूष मानते हैं, जिसका समर्थन करते हुए राजेश जोशी भी दिखाई पड़ते हैं। इनका कहना है कि त्रिलोचन ने गीत, गजल, और फ्रीवर्स में बहुत कविताएँ लिखी है और इनकी

'चम्पा काले अक्षर नहीं चीन्हती' तथा 'नगई महरा' को गद्य कविता मानते हैं। इसके अलावा राजेश जोशी ने सॉनेट को त्रिलोचन का पर्याय माना है।

बद्रीनारायण 'कलकत्ते पर बज्जर गिरे' कविता के आधार पर त्रिलोचन की कविताओं में भोजपुरी क्षेत्र के विस्थापन की पीड़ा देखते हैं। इसमें भोजपुरी क्षेत्र तथा ग्रामीण अंचलों से शहरों में जाने वाले मजदूरों की सांस्कृतिक क्षति, जीवन की पीड़ा व विरह जैसे अनेक भाव निहित हैं। उनका कहना है- ''भारतीय लोक की यही रिजिलिएंस उसकी शक्ति है जो बदलती दुनिया के घात-प्रतिघातों में भी उसे जीवित रखती है। त्रिलोचन अपनी कविताओं में लगातार बदल रही दुनिया में भारतीय गंवई एवं भारतीय ग्रामों पर हो रहे, घात-प्रतिघातों में भी उनके दुखों, विरह, विछोहों को वाणी देते हुए उनके रिजिलिएंस को कविता का कथ्य एवं भाषा दोनों ही बनाते है।''१० त्रिलोचन की कविता में लोक जीवन की समस्याएँ भी उद्‌घाटित होती हैं, जिनमें नन्दीग्राम, दादरी के प्रतिरोधी किसानों की आत्महत्या तथा निराशा एवं लोक जीवन की ऊर्जा, प्रतिरोधी तत्व तथा दैनिक जीवन की गति भी दिखाई देती है। अरविन्द त्रिपाठी त्रिलोचन को भारतीय कविता के विलक्षण 'अवधूत' कवि के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि वे कविता में महान होने के साथ ही जीवन की विसंगतियों से गुजरते हुए भी महान हैं। त्रिलोचन अपनी कविताओं में अपनी विसंगतियों का वर्णन करते हुए समाज की गरीबी, फटेहाली और मुफलिसी में जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्यों का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

विभिन्न आलोचकों द्वारा त्रिलोचन के काव्य संसार के मूल्यांकन के आधार पर कहा जा सकता है कि भले त्रिलोचन को आरम्भिक हिंदी आलोचना में नकार दिया गया हो पर बाद में त्रिलोचन के काव्य मर्म पर गंभीरता से विचार विमर्श हुआ है और त्रिलोचन को एक 'लोक' कवि के रूप में स्थापित किया गया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. त्रिलोचन की कविता-सहजता का बहुवर्णी रंग, कविता के सम्मुख-गोविन्द प्रसाद, पृ.-१०२
२. धरतीरू एक समीक्षा-गजानन माधव मुक्तिबोध, त्रिलोचन के बारे में, सं६ गोबिन्द प्रसाद, वाणी प्रकाशन, पृ. ३१
३. धरतीरू एक समीक्षा-गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ. ४१
४. त्रिलोचन-फणीश्वरनाथ रेणु, त्रिलोचन के बारे में, पृ. ४४
५. औसत भारतीयता का कवि-मलयज-त्रिलोचन के बारे में, पृ. ५२
६. त्रिलोचनरू आधुनिकता और परम्पराबोध- रामविलास शर्मा, पृ. ६३
७. एक नया काव्यशास्त्र त्रिलोचन के लिए- नामवर सिंह, त्रिलोचन के बारे में पृ. ६०

८. त्रिलोचन के बाद-विष्णु चन्द्र शर्मा, पहल-८८, मार्च-अप्रैल-२००८, संपादक-ज्ञानरंजन, पृ. २९
९. कुछ बेतरतीब टुकड़े-राजेश जोशी, पहल-८८, पृ. ३६

-सहायक प्राध्यापक
हिंदी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
esy&rajmeena@bhu.ac.in

धर्मवीर भारती कृत कनुप्रिया में राधा : नारी सजगता के नवीन आयाम

–डॉ० कुलविन्दर कौर

श्री कृष्ण समूची भारतीय प्रतिभा एवं आस्था के शलाका पुरुष हैं। वे समय व्यवधान के साथ गोपसखा के सखा, रासलीला सखा, अंतरंग प्रेयस, कूनटीतिज्ञ एवं योगीराज भी है। भारतीय जनमानस में सर्वाधिक सर्वग्राह्य आराध्य, पूजनीय एवं प्रशंसनीय रहे हैं।राधा वैष्णव सम्प्रदाय की धारणा के अनुरूप कृष्ण की चिरसंगिनी है, योग माया है एकत्व भाव है।

धर्मवीर भारती की कनुप्रिया भारतीय जनमानस में स्थापित, उद्घोषित एवं परम्परित मान्यताओं के विपरीत होते हुए भी नारी मन की सहज अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति करती हुई प्रश्नाकुल है। कहीं मोहभंग की स्थिति है तो कहीं पीछे छूट जाने का आदिम भय। कहीं सेतुबंध होने की त्रासद पीड़ा है कहीं प्रतीक्षारत रहने की नारी सुलभ चेष्टा। रागात्मक संबंधों की अन्यतम कृति कनुप्रिया में कनु की प्रिया प्रश्नों की झड़ी लगा देती है।राधा सारे परिवेश को और उसके नायक को बौद्धिकिता से परे होकर भावाकुल तन्मयता से निरखती है। वह सहज की कसौटी पर समस्त को कसना चाहती हैं क्योंकि राधा पौराणिक पात्र होते हुए आधुनिक युग की चिर-आकांक्षित नारी पुकार है जिसके आग्रह एवं संशय कृष्ण के ईश्वरीय रूप को भी चुनौती देते जान पड़ते हैं।

धर्मवीर भारती स्वयं भूमिका में इस प्राचीन कथा के नवीनसूत्र एवं सन्दर्भ ढूँढते जान पड़ते हैं- ''लेकिन ऐसे भी क्षण होते हैं जब हमें लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है महत्व उसका नहीं है चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है, जो क्षण हमें सीपी की तरह खोल गया है इस तरह कि समस्त बह्य अतीत वर्तमान और भविष्य सिमटकर उस क्षण में पूँजीभूत हो गया और हम हम नहीं रहे।''

कनुप्रिया राधा की पुकार का नवीनीकरण है। सारे पौराणिक सन्दर्भों को साथ लेकर भी राधा का व्यक्तित्व आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता की राह पर से होकर आती नारी सजगता का परिचायक है।

डॉ० उमाकांतगुप्त-''कनुप्रिया में राधा प्रथम बार साधारण प्रेमिका को छोड़कर कृष्ण की अर्द्धांगिनी केलि सखी, सह-इतिहास निर्मात्री अंतर सखी बनकर उभरी है जो कवि की प्रगतिशील चिंतन दृष्टि की परिचायक है।'' (नयीकविता के प्रबंध-काव्य, शिल्प और जीवन दर्शन)

धर्मवीर भारती वैष्णव सम्प्रदाय की राधा के स्वरूप की रक्षा करते-करते उसके मन के विविध स्तरों पर उत्तर गए हैं। देखा जाए तो कनुप्रिया राधा के मर्म एवं धर्म दोनों का निरूपण करती है।

राधा के व्यक्तित्व के जो विविध नवीन आयाम एवं रूप कनुप्रिया में परिलक्षित हुए हैं वे इस प्रकार है-

राधा की कर्त्तव्य भावना

कनुप्रिया की राधा इतिहास का नूतन एवं सार्थक निर्माण करना चाहती है।

'बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता तुम्हारे इतिहास का'

-कनुप्रिया, प्र.८२

राधा, कृष्ण की अपूर्णताओं का मार्जन भी करना चाहती है। इतिहास पुरुष को नई परिभाषा देना चाहती है ताकि वह अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन कर सके।

''जन्मान्तरों की अनन्त पगडण्डी के कठिन मोड पर खड़ी होकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ कि इस बार इतिहास बनाते समय तुम अकेले न छूट जाओ।'' -कनुप्रिया, प्र. ८१

सहयोगी राधा

राधा का कहना है कि उसके सहयोग के बिना कृष्ण इतिहास को सार्थकता नहीं दे सकते क्योंकि नर के उत्थान में सदा नारी का योग रहता है और प्रिय को महान् बनाने में सदैव प्रिय का हाथ रहा करता है। धर्मवीर भारती स्थापित करते हैं कि राधा की हानि के मूल्य पर कृष्ण ने महान्ता अर्जित की है-

''तुम्हारे महान् बनने में क्या मेरा कुछ टूटकर बिखर गया है कनु।''

-कनुप्रिया प्र. ६३

गर्वित माध्यम रूपराधा

कनुप्रिया की राधा में अपूर्व आत्मबोध और आत्मविश्वास का संचार है। राधा मानती है कि उसे माध्यम रूप में स्वीकार किए बिना इतिहास में अर्थ नहीं भरा जा सकता। राधा की यह सोच सम्प्रभुत्व वाले समाज के लिए एक चुनौती है और पॉलिटिक्स ऑफ जैंडर की पृष्ठ

भूमि में जेण्डर जस्टिर की मांग की ऐसी व्यंजना है जिसमें आधुनिकताओं की तनी हुई भृकुटि की उग्रता भी नहीं है।

आंतकित राधा सजग राधा

वैचारिक दृष्टि से कनुप्रिया की राधा इतनी प्रौढ़ है कि उसके समक्ष लीलावतारी कृष्ण के मायाधीन और मायातीत दोनों रूप प्रकट हैं। साथ ही उसे इसका आभास है कि यह निखिल सृष्टि उसी का लीलातन हैं, जिसका निरन्तर आस्वादन कृष्ण की एकमात्र अकांक्षा है। उसे यह भी मालुम है कि इस लीलातन के अलावा उसका एक छायातन है जो किसी आदिम भय से सतत ग्रस्त रहा करता है।

"और अगर ये सारे रहस्य मेरे है और तुम्हारा संकल्प मैं हूँ,
और तुम्हारी इच्छा मैं हूँ
तो मैं डरती किससे हूँ मेरे प्रिय।" -कनुप्रिया प्र. ४७

नवीन उद्भावना- कनुप्रिया में राधा के मन का विश्लेषण अधिक हुआ है। इसलिए इसमें कृष्ण पक्ष कम है, केवल राधा ही राधा है। कनुप्रिया में कृष्ण कभी खुलकर पाठकों के सामने नहीं जाते, यद्यपि कृष्ण भाव या भागवत के लीलावतारी कृष्ण का अरूपीकरण काव्य के पूरे वातावरण में अदृश्य सुगंध की तरह समाया हुआ है। कनुप्रिया में राधा के व्यथा भरे प्रश्नों का विकल गुंजार है।

नयी मूल्य चेतना की अभिव्यक्ति राधा

कनुप्रिया की राधा नयी मूल्य चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति है। मन की दुविधा को मुखर होकर वाणी देती है। औचक मुखर होकर पूछ बैठती है, तुम मेरे कौन हो? सचमुच कृष्ण के साथ उसका संबंध शाश्वत होकर भी उलझा हुआ है, क्योंकि वह स्वकीया परकीया के प्रचलित विभाजन पर सटीक नहीं बैठती है कृष्ण के राधा को कभी परिणीता या विहित स्वकीया नहीं बनाया। लौकिक रीति पर रिश्ता प्रश्नचिन्ह लिए हुए है युगों से राधा के मन में यह मार्मिक प्रश्न गूंजता रहा है, जो आजतक अनुत्तारित ही है।

"मेरे साँवले समुद्र तुम आखिर हो मेरे कौन?"

त्याग की प्रतिमूर्तिराधा

कनुप्रिया की राधा में प्रेम की पीड़ा के साथ-साथ एक आत्मत्याग की मधुर दीप्ति भी है जिससे उसके चरित्र का अंकन कवि ने किया है। कृष्ण विराट हैं फलतः प्रेमपथ के चिन्हों को मिटा देने के लिए आज स्वयं उनकी सेनाएं ही तत्पर हो उठी हैं। राधा का कृष्ण भी जीवन की इसी भीड़ में खो गया है पर राधा तो त्याग की मूति है-

उदास क्यों होती है नासमझ कि इस भीड़ भाड़ में तू और तेरा प्यार नितांत अपरिचित छूट गये हैं?-कनुप्रिया प्र. ६६

मानवी राधा लौकिक राधा

पूर्वराग में डा. भारती ने राधा और कृष्ण के प्रेम का मानवीवृत रूप स्पष्ट किया है। राधा मानव है-दुर्बलताओं से युक्त महान् चरित्र। राधा का प्रेमदिव्य है, उस कारण यह है कि वह लौकिक है यही भारती की नयी उपलब्धि है। **विष्णुकांत शास्त्री** लिखते हैं-

वह (राधा) मानवोचित विरागों और रागों से युक्त एक प्रेमिका है, जिसमें मानव जीवन की समस्त भावनाओं अनुभूतियों का संगम उपस्थित किया गया है।

सेतुबंध राधा

राधा आकलन करती है कि कृष्ण जिसे राधा ने सर्वस्व देकर पाया था, वह मृगतृष्णा में युद्ध की वेदी पर प्रेम की बलि देने को तत्पर हो गया है। उसे लगता है पिछले जीवन की घटी घटनाएं झूठी थी कृष्ण का सारा प्रेम उसका रचा हुआ सम्मोहन इन्द्रजाल ही था। युद्ध की विभीषिका में सब नष्ट हो गया है। वह सोचती है कि उसके कनु को, जो उसका था, आज इतिहास छीनकर ले गया है। कनु को विराट बनना था उसे युद्ध का नायकत्व कर नाथा, पर वह आज राधा से दूर चला गया है। वह कहती है-"सुनो कनु सुनो क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिए लीलाभूमि और युद्ध क्षेत्र के अलंघ्य अंतराल में।"

सजग चेतन निजत्व सम्पन-राधा

कनुप्रिया की राधा कृति के आरंभ से काफी चेतन है, सजग है, उसमें निजता का बोध काफी स्पष्ट है-

"तुमको क्या मालुम मैं कितनी बार केवल तुम्हारे लिए धूल में मिली हूँ।"

मुग्धा राधा-निश्छल राधा

कनुप्रिया की राधा कृष्ण के रूप एवं व्यक्तित्व से मुग्ध है। वह अपने सामान्य दिनचर्या में उससे प्रभावित होती है किन्तु निश्छल हृदय होने के कारण कृष्ण के मायावी, लीलाधारी रूप को समझ नहीं पाती-

मैंने अक्सर तुम्हें कदम्ब के नीचे चुपचाप ध्यान मान खड़े पाया मैंने कोई अज्ञात वनदेवता समझ कितनी बार तुम्हें प्रणाम कर सिर झुकाया।

भोली राधा-पारदर्शी लगाववाली राधा

राधा जब कृष्ण के निकट होती है तो उसके अहसासों पर पहरा लगा दिया जाता है।

वह कृष्ण के सामीप्य को घूँट-घूँट पीती है, पर शाम को जब घर जाती हूँ तो निधृत एकांत में दीपक के मन्द आलोक में अपने उन्हीं चरणों को अपलक निहारती हूँ बावली-सी उन्हें बार-बार प्यार करती हूँ जल्दी-जल्दी में अधबनी उन महावर की रेखाओं को चारों ओर देखकर धीमे से चूम लेती हूँ।

इन पंक्तियों में राधा का भोलापन टपकता है पर भोलेपन से भी अधिक ध्वनित बात है कृष्ण के प्रति उसके मन का पारदर्शी लगाव। महावर की अधबनी रेखाओं को बार-बार चूमने का कारण न तो पाँवों की सुन्दरता है और न महावर गन्ध। कारण है वह पाँवों को कृष्ण के हाथों का स्पर्श मिला है। यह सब अनजाने में ही होता है क्योंकि इसकी मूलवृत्ति संशय या जिज्ञासा नहीं भावाकुल तन्मयता है। प्रेम में भोलेपन को एक गुण माना गया है।

बावली राधा

राधा कृष्ण के विराट् व्यक्तित्व के सम्मुख अबोध है, बावली है। प्रेम एवं राग के साधारण से संकेत भी बावली राधा समझ नहीं पाती है।

तार्किक राधा-निरर्थक भाव वाली राधा

राधा अपने संपूर्ण प्रेम को समस्त पर कसना चाहती है। वह अपने प्रेममयी क्षणों को तर्क की कसौटी पर भी कसती है। वह तार्किक भाव से अपने सेतुबंध होने की जिज्ञासा करती है साथ ही उसे अपने प्रेम में निरर्थक हो जाने एवं रह जाने का भाव तंग करता है-

मन्त्र पढ़े बाण से छूट गये तुम तो कनु शेष रही में केवल काँपती प्रत्यंचा-सी।

आशावादी राधा-चिरप्रतीक्षित राधा-विरह विदग्धा राधा

विरह में भी राधा निराश नहीं है उसके हृदय को विश्वास है कि अठारह अक्षौहिनी सेनाओं के विनाश होने के बाद निरीह एकाकी और आकुल कृष्ण किसी भूले हुए आंचल की छाया में विश्राम के लिए लौटेंगे तो उन्हें अपने वक्ष में शिशु साल लपेट लेगी-

और इस क्षण केवल कनुप्रिया में डूबे हुए दर्द में पके हुए तुम्हें बहुत दिन बाद मेरी याद आयी है।

यह संबंधों का मोह है जिसमें कृष्ण कभी सखा कभी बन्धु कभी आराध्य, कभी शिशु कभी दिव्य, और कभी सहचर हो जाते हैं। राधा, सखी, साधिका, बाँधवी, माँ वधू और सहचरी बन जाती है।

"इतिहास के अन्तराल में राधा अपनी उपलब्धि के क्षण से दूर हार चुकी है। अब रीते हुए पात्र की आखिरी बूँद-सा उसका तन और संशय शेष रह गया है।"

निष्कर्ष

राधा का प्रेम अति चर्चित विषय है जिसको भारतीय वाङ्मय के अनेकानेक कवियों ने अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है, आधुनिक काल में आकर राधा के चरित्र को रत्नाकर ने दिव्य स्पष्ट दिया राष्ट्रीय चेतना से मंडित किया, मैथिली शरण गुप्त ने एक दीप्ति प्रदान की है। हरिऔद्य ने धर्मवीर भारती की कुशल लेखनी ने राधा पर लिखा और लिखा ही नहीं, एक नयी दृष्टि और भंगिमा से देखने का प्रयत्न भी किया है। भारती जी की राधा नवीन आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती है जो लौकिक है, तार्किक है, भावबोध के सम्पन्न है, गर्वित है, मुग्ध है, सहचरी है, इतिहास निर्मात्री है। उसका प्रेम दिव्य है, आराधना का स्तर ब्राह्मांडों की गति से भी परे है, समस्त सृष्टि उसी का लीलातन है, और चन्द्रमा जिसके माथे का सौभाग्य बिन्दु है, भारती जी की वह राधा समकालीन एवं तत्कालीन राधा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. कनुप्रिया धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, २००८ संस्करण, दिल्ली
२. धर्मवीर भारती की साहित्य साधनापुस्पाभारती, (सं) भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
३. धर्मवीर भारती और उनका अंधा युग, डा. मदनलाल, सदभाव का प्रकाशन, दिल्ली
४. धर्मवीर भारती का काव्य, डॉ० हरिचरण शर्मा, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर
५. धर्मवीर भारती अनुभव और हरि व्यक्ति, लक्ष्मणदत्त गौतम, भारत पुस्तरभण्डार, दिल्ली
६. अनंत पंथ के यात्री धर्मवीर भारती, विष्णुकांत शास्त्री, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
७. नयी कविता के प्रबंधक, डॉ० उमाकांतगुप्त

-अध्यक्ष (हिन्दी-विभाग)
हिन्दू कन्या कॉलेज कपूरथला पंजाब

कोणार्क का माहात्म्य

–डॉ० महेन्द्र कुमार उपाध्याय

प्राचीन भारत में सूर्योपासना का प्रमाण नवपाषाण काल से मिलने लगता है। सूर्योपासना की यह कड़ी हड़प्पाकाल, वैदिक काल से निरन्तर प्रवाहित होते हुए आज तक जनमानस में अपना स्थान बनाये हुए है। सूर्योपासना का आधार उसका प्रकाश, गर्मी (ऊर्जा), दिन-रात के निर्माता और उत्पादन-शक्ति का स्वरुप रहा होगा। कुष्ठ निवारण, युद्ध में विजय एवं सन्तान प्राप्ति हेतु भी सूर्योपासना के प्रमाण मिलते है। प्रतीकों और प्रतिमाओं की पूजा हेतु अर्ध्य, हवन, मन्त्रोचारण, फल-फूल, दीप, धूप, आदि विधि विधानों का प्रचलन था। प्राचीन भारत के सूर्य मन्दिरों में कालप्रिय का सूर्य मन्दिर, लोलार्क का सूर्य मन्दिर, मुल्तान का सूर्य मन्दिर, देव (औरंगाबाद, बिहार) का सूर्य मन्दिर, मोढेरा का सूर्य मन्दिर तथा कोणार्क का सूर्य मन्दिर प्रमुख है।

कोणार्क न केवल उड़ीसा बल्कि समस्त पूर्वी भारत में सूर्योपासना का महानतम केन्द्र था। यह पूरी से लगभग १९ मील दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित है। यह मन्दिर सूर्योपासना का उत्तम स्मारक है।[१] अपनी वास्तुगत और मूर्तिगत सुन्दरता के कारण यह आज तक ध्यानाकर्षण का केन्द्र है। इसे वास्तुकला की 'पूर्वी शैली' की शानदार उपलब्धि[२] स्वीकार किया जा सकता है। यह मध्यकालीन भारतीय कला के प्रमुख स्मारकों में से एक है।[३] यह सूर्य मन्दिर अपने कल्पनामय चित्रों के लिए प्रसिद्ध है। इसमें वास्तुकला और मूर्तिकला का सुन्दर समन्वय हुआ। इसमें विभिन्न प्रकार की सुन्दर नक्काशी एवं मूर्तियों का अंकन मिलता है।

'कोर्णाक' शब्द कोण + अर्क से बना है जिसका अर्थ- 'कोण पर सूर्य'[४] अथवा 'सूर्य का कोना'[५] है। इसका तात्पर्य यह है कि यह मन्दिर भारत के पूरब में पुरी जिले में स्थित होने से 'कोने का सूर्य मन्दिर' (Sun in the corner [kona] with respect to Puri) कहा जाता है, जो उगते हुए सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है। यह सम्भव है कि सूर्य की किरणें इस स्थान पर पहुँचकर दक्षिणायन हो जाती है, इस कारण इस स्थान का नाम कोणार्क पड़ा, परन्तु भौगोलिक स्थिति ऐसी नहीं है। कर्क रेखा इस स्थान के उत्तरी भाग से गुजरती है। कर्क रेखा पर यह स्थान स्थित भी नहीं है।

साम्बपुराण[६] के परवर्ती अध्यायों में कृष्ण के पुत्र साम्ब को कोणार्क के सूर्य मन्दिर का

निर्माता कहा गया है। इतिहास में पूर्वी गंग शासक नरसिंह प्रथम[७] को इस महत्वपूर्ण सूर्य मन्दिर के निर्माण का श्रेय प्रदान किया गया है। नरसिंह द्वितीय के ताम्रपात्र अभिलेख (शक. १२५५) में भी कहा गया है कि राजा नरसिंह प्रथम ने कोनकन (आधुनिक कोणार्क)[८] में भगवान सूर्य का मन्दिर निर्मित करवाया था। अतः ताम्रपत्र अभिलेख और मन्दिर की शैलीगत विशेषताओं से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर वर्तमान मन्दिर का निर्माता नरसिंह प्रथम (१२५० ई०) को स्वीकार किया जा सकता है। इतिहास में उल्लिखित है कि नरसिंह प्रथम ने इसे अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र[९] पर अपनी विजय के उपलक्ष्य में निर्मित करवाया था।

सूर्य तीर्थ के रूप में कोणार्क की महत्ता स्कन्द[१०] भविष्य[११] और वराह पुराण[१२] में स्पष्ट रूप से वर्णित है। ब्रह्मपुराण[१३] में कोणादित्य को आनन्द और मुक्ति देने वाला कहा गया है। कोणार्क की ख्याति विशेषतः कुष्ठ निदान हेतु है जो कुष्ठ रोग निवारण[१४] हेतु लम्बे समय से सूर्योपासना से सम्बन्धित है। पौराणिक कथा के अनुसार कोणार्क के सूर्य मन्दिर को नरसिंह प्रथम ने स्वयं कोढ़ से मुक्ति हेतु निर्मित किया था। ब्रह्मपुराण[१५] में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को माघ माह के अर्द्ध शुक्लपक्ष की सप्तमी को कोणार्क के सूर्य की उपासना करनी चाहिए।

कोणार्क का सूर्य मन्दिर नागर शैली की पराकाष्ठा को व्यक्त करता है। पर्सी ब्राउन[१६] के अनुसार इस प्रकार के मन्दिर का निर्माण कई सौ वर्षों के परिपक्व एवं संचित अनुभव का परिणाम है। वास्तुगत एकता के अन्तर्गत इसके विभिन्न अंगों का तर्कपूर्ण एवं क्रमबद्ध समन्वय है। इस प्रकार कोणार्क के सूर्य मन्दिर का प्रत्येक पहलू शैलीगत पूर्णता एवं पराकाष्ठा को दर्शाता है। कोणार्क का सूर्य मन्दिर वहीं स्थित है जहाँ समुद्र, आकाश और पृथ्वी का वैभवपूर्ण ढंग से मेल है और जहाँ सूर्य सर्वप्रथम अपनी सुनहरी किरणें बिखेरता है और अपनी छिपती किरणों से इस प्राकृतिक भू-भाग का नमन करता है।[१७] वस्तुतः यह सूर्य मन्दिर के लिए उपयुक्त स्थल था। यह देवालय भग्नावस्था में अधिक समय रहने के कारण काला पड़ गया है, जिसे देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने इसका नाम ब्लैक पगोड़ा (काला पिरामिड) रख दिया था। एक अन्य दृष्टि है कि यह मन्दिर शताब्दियों से समुद्र की लहरों, आँधी और वर्षा के प्रबल से काला पड़ गया है। इसलिए 'काला पगोड़ा' कहा जाता है। इस काले पगोड़ा के मुख्य निर्माता ने स्पष्ट एवं काल्पनिक विचार के पश्चात् इस मन्दिर की रूपरेखा को संजोया।

वैदिक और पौराणिक परम्पराओं में सूर्यदेव सात घोड़ों से खीचें जा रहे समय रूपी रथ पर आरूढ़ चित्रित है, जिसके द्वारा वे स्वर्ग की यात्रा[१८] करते हैं। इस पौराणिक आख्यान को वास्तुकार ने एक मन्दिर का रूप दिया है। इमारत को रथ के रूप में या सूर्य के सात घोड़ों द्वारा खींचे जा रहे पहिये वाले रथ के रूप में सजाया गया है। रथारूढ़ सूर्यदेव द्वारा आकाश

की यात्रा[१६] करना, इस उपाख्यान की अभिव्यक्ति के लिए सूर्य मन्दिर से अधिक उपयुक्त कुछ भी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मानो रथ सूर्य देव के लिए विशिष्ट रूप से निर्मित किया गया है। रथ के दोनों ओर १२ पहिये हैं जो वर्ष के १२ महीने तथा दोनों ओर होने से कृष्ण और शुक्ल पक्ष के प्रतीक हैं।[२०] रथ में जुते सात घोड़े सप्ताह के सात दिनों अथवा सूर्य की सात रश्मियों के सूचक हैं। प्रत्येक पहिये में ८ मोटे और ८ पतली तीलियाँ हैं जो परम्परावादी हिन्दुओं के दिन और रात के विभाजन की अभिव्यक्ति है।[२१] प्रत्येक पहिये की ऊँचाई लगभग १० फुट है। इस मन्दिर में उड़ीसा के अन्य बड़े मन्दिरों की भांति नट मन्दिर, भोग मन्दिर, जगमोहन तथा देउल भाग निर्मित किये गये थे। अब इसका केवल जगमोहन तथा खण्डित देउल भाग ही सुरक्षित है, शेष भाग ध्वस्त हो चुके हैं। इसका देउल अथवा विमान अपने निर्माण काल में जमीन से लगभग २२५ फुट ऊँचा था। इसी प्रकार इस मन्दिर का बड़ा हॉल अर्थात् जगमोहन १०० फुट लम्बा तथा १०० फुट ऊँचा है। इस मन्दिर का विशाल प्रांगण ८६५ फुट लम्बा तथा ८५० फुट चौड़ा है।

'बयचकड़' नामक एक प्राचीन उड़िया बही से कुछ जानकारी प्राप्त होती है। इस बही में मन्दिर निर्माण सम्बन्धी आय-व्यय, शिल्पीवर्ग तथा उनकी विशेषताओं आदि का ब्योरा दिया गया है। इसमें प्रदत्त विवरण के अनुसार इस मन्दिर के निर्माण के लिए देश के कोने-कोने से कई सहस्त्र शिल्पियों को आमंत्रित किया गया था तथा सम्पूर्ण शिल्पीय कार्य के अधिष्ठाता के रूप में सदाशिव सामंतराय महापात्र नामक प्रसिद्ध स्थपति को सूत्रधार नियुक्त किया गया था। उसी ने इस मन्दिर के गर्भ गृह में स्थापित महाभास्कर (सूर्य) प्रतिमा का निर्माण किया था।

'बयचकड़' बही से यह भी पता चलता है कि मूर्तिकला के विभिन्न आयामों से जुड़े अलग-अलग शिल्पी वर्ग नियुक्त किये गये थे जिनके नाम थे- चित्रकार, जारीकार, चुनुर, पाथुरिया, कारीगर, बखानिया, शिल्पीनायक आदि। इनमें प्रत्येक का अलग-अलग कार्य निर्दिष्ट था। कोणार्क में तमिलनाडु प्रदेश के मदुरै नगर से भी शिल्पी आये थे, जिन्हें पत्र एवं वल्लरी उकेरने का कार्य सौंपा गया था, परन्तु बाद में इनका कार्य सन्तोषजनक न पाये जाने के कारण इन्हें मदुरा वापस भेज दिया गया था। उपर्युक्त बही के सूचनानुसार निर्दिष्ट समय पर कार्य करने के लिए शिल्पियों को ठेका दिया जाता था। कोणार्क मन्दिर के निर्माण कार्य में लगाये गये शिल्पियों में स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं। बयचकड बही में सूना नामक एक 'पाचुरियानी' नारी शिल्पी का बड़ा रोचक वर्णन किया गया है। यह नारी शिल्पी तोरण-सज्जा में सिद्धहस्त थी। सूना तथा अन्य नारी शिल्पियों का पुरूष शिल्पियों के सन्निकट ही आवास-स्थल बनाया गया था। बयचकड बही के विवरण से ज्ञात होता है कि सूना का किसी स्थपित से प्रगाढ़ प्रणय सम्बन्ध स्थापित हो गया था जिसकी चर्चा बहुत अधिक थी। इस प्रणय सम्बन्ध के कारण

शिविर-स्थल पर अनेक समस्याएँ पैदा हो गयी थीं जिनका अन्ततोगत्वा समाधान किया गया।

उपर्युक्त उड़िया बही से ज्ञात होता है कि अधिष्ठान के दोनों ओर रथ में जुते सातों घोड़ों की प्रतिमा नारायण महापात्र नामक प्रसिद्ध स्थपित ने निर्मित किया था। इस तरह गदाधर महापात्र नामक स्थापित की देख-रेख में अरुण स्तम्भ, अश्वारूढ़ प्रतिमा (हरिदाश्व), मिथुनों की विशाल मूर्तियाँ, विमान की आठ हाथ परिमाण की अलसकन्या मूर्तियाँ, पीढ़ा के तलों की गायन-नृत्य मुद्रा की मूर्ति तथा नटेश शिव आदि भव्यतम मूर्तियों का निर्माण सम्पन्न हुआ था। उपर्युक्त बही के विवरणानुसार गंगा महापात्र नामक शिल्पी की देखरेख में जगमोहन के पीढ़ा शिखर की ०६ विशालकाय संगीतज्ञों की प्रतिमाएँ, ०३ दिग्पाल प्रतिमाएँ तथा १० दिग्पाल-पत्नी प्रतिमाओं का रूपायन हुआ था। इसी प्रकार सूर्य की ०३ विशाल मूर्तियाँ विमान की तीन दिशाओं में निर्मित की गयी थी। बही के अनुसार विश्वनाथ महापात्र नामक शिल्पी ने स्वयं अपने निर्देशन में कोणार्क मन्दिर के निर्माता गंगनरेश नरसिंहवर्मन तथा उनके परिवार एवं दरबार आदि को कुल २४ शिलाफलकों पर शिल्पाकिंत किया था।

मन्दिर के भवनों के सभी वाह्य भाग उकेरी हुई आकृतियों से सजे हुए हैं। फूल-पत्तियाँ, पशु, देव-दानव, सूर्य देव के साथ उनकी पत्नियों, पुत्रों और अनुयायिओं की कई मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। अधिकांश उभरी हुई आकृतियाँ स्त्री-पुरुषों की है।कुछ विद्वानों के अनुसार वे कामसूत्र में वर्णित कामपरक विषयों का चित्रण करती है। यह कहा जाता है कि कोणार्क का सूर्य मन्दिर अपनी कामुक मूर्तियों के अंकन में खजुराहो की मूर्तियों से भी उत्कृष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य मन्दिर के साथ इनका अंकन सूर्य के उत्पादन और सर्जनात्मक शक्ति का सूचक है।[२२] इससे धर्म में तांत्रिक कला का प्रभाव भी स्पष्ट होता है।

निष्कर्षतः कोणार्क का सूर्य मन्दिर आज भी अतुलनीय है। महान संरचना ध्वंशावशेषों में परिवर्तित हो गयी है, लेकिन समुद्र की शाश्वत गर्जना, जो कोणार्क के गौरव रूपी सुगन्ध से युक्त है, सदैव भविष्य में सुनी जाती रहेगी। अब भी सारा वातावरण धार्मिक पवित्रता और भावनाओ का स्फुरण करता है और यह अद्‌भुत स्थान विश्व के कोने-कोने से प्रत्येक दिन आने वाले आगन्तुकों द्वारा सदैव प्रशंसित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. ब्राउन पर्सी : 'इण्डियन आर्किटेक्चर', पृ०-१२०

२. वही, पृ०- १०६

३. कुमारस्वामी, ए०के० : फोर डेज इन उड़ीसा, मॉर्डन रिव्यू, १९११, पृ०- ३४५-५०१

४. 'शरतेन्दु' सत्यनारायण दुबे : भारतीय कला, पृ०-१४४

५. राय, उदय नारायण : भारतीय कला, पृ०- २३६

६. साम्बपुराण ४२-४३
७. हण्टर, डब्लू०डब्लू० : ए हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा, पृ०-१२६
८. सरकार, डी०सी० : एपिग्राफिका इण्डिका, जि० ३१, पृ०-१११
९. लाल, के० : मिराकल ऑफ कोणार्क, पृ०- १४-२४
१०. स्कन्दपुराण, ट्ण्७६
११. भविष्यपुराण, १.७६
१२. वराहपुराण, १७७.५५-७७
१३. ब्रह्मपुराण, २८.१८
१४. श्रीवास्तव, वी०सी० : सनवर्शिप इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ०-५६
१५. ब्रह्मपुराण, २८.१
१६. ब्राउन, पर्सी : पूर्वोद्धत, पृ०-१०७
१७. उपाध्याय, महेन्द्र कुमार : उत्तर भारतीय सौर मन्दिर : मिथकों और प्रतीकों का अनुशीलन, पृ-५९
१८. ऋग्वेद,ण्११५,
१९. लाल, के० : मिराकल्स ऑफ कोणार्क, पृ०- ३३
२०. उपाध्याय, महेन्द्र कुमार : पूर्वोद्धत, पृ०- ८६
२१. वही
२२. कुमारस्वामी, ए०के० : पूर्वोद्धत, पृ०- ३४५-५०

-एसोशिएट प्रोफेसर
इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
ज.रा.दि. राज्य विश्वविद्यालय,
चित्रकूट (उ०प्र०) २१०२०४
मो०- ७९८५०८८४३४
ईमेल-mahendrapdh03@gmail.com

संस्कृत शास्त्रों में राष्ट्रचिन्तन की अवधारणा

–डॉ० रामकृपाल

'राष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'चमकना' अर्थवाली राज् धातु से हुई है जिसमें औणादिक 'ष्ट्रन' प्रत्यय जोड़ा गया है, इसके अनुसार इसका अर्थ 'राजते' दीप्यते प्रकाशते शोभति इति 'राष्ट्रम' अर्थात् जो स्वयं देदीप्यमान होने वाला है वह राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र शब्द की अवधारणा आधुनिक राजनीतिक संगठन की आधारशिला है। जिसमें ऐतिहासिक सांस्कृतिक-सामाजिक एवं राजनैतिक कारकों का एक जटिल अन्तर्संबंध है, जो लोगों को एक समूह द्वारा साझा की गयी सामूहिक पहचान को परिभाषित करता है। राष्ट्रीय चेतना में वृद्धि एक राष्ट्र बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है। श्रीमद्भगवत गीता में सार्वभौमिक मूल्यों एवं कर्मयोग का संदेश है जो राष्ट्र निर्माण में सहायक हो सकता है गीता में व्यक्ति को कर्तव्यों का पालन करने तथा समाज एवं राष्ट्र के उत्थान में हमेशा तत्पर रहने का संदेश दिया गया है। संस्कृतशास्त्रों में राष्ट्रचिंतन की अवधारणा भलीभांति परिलक्षित दिखाई पड़ती है।

अयंनिजः परोवेति, गणना लघुचेतसाम।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुंबकम्।। [1]

जिस राष्ट्र में अपने और पराये का भेदभाव न हो उसे ही राष्ट्र की संज्ञा दी जा सकती है। उदार हृदय से राष्ट्रचिंतन की अवधारणा फलवती हो सकती है। ऐसा विद्वानों का मन्तव्य है–

अपि स्वर्णमयी लंका न मे रोचते लक्ष्मणः।
जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयशी।।

राष्ट्रीय चिंतन की अवधारणा को परिभाषित करना अत्यंत कठिन कार्य है। क्योंकि विभिन्न समाज और संस्कृतियों में इसके अलग-अलग परिणाम दिखाई पड़ते हैं। अंग्रेजी शब्द 'नेशन' लैटिन भाषा के नेटियों Natio से बना है, जिसका अर्थ जन्म या जाति होता है। इस आधार पर राष्ट्र को एक समाज, प्रजाति, कुल, समान भाषा का प्रयोग करने वाले लोग व्यक्तियों के समूह को माना जा सकता है, परंतु यदि हम यह अर्थ स्वीकार करें तो भारत में अनेक राष्ट्र है, क्योंकि यहाँ विभिन्न प्रजातियाँ, भाषा, धर्म के लोग रहते हैं। यदि प्रजाति को विशेष राष्ट्र की नींव मान लिया जाय तो वे विश्व के किसी भी कोने में निवास करने वाले हो तो एक राष्ट्र के निवासी कहे जाएँगे, परंतु यह अवधारणा बिल्कुल सटीक नहीं फिट हो

सकती हैं क्योंकि हिटलर ने इसी राष्ट्रीयता के आधार पर जर्मनी को विश्व विजेता बनने का प्रयास किया था।

प्रो. हरीलाल वर्माजी के शब्दों में राष्ट्र एक विशिष्ट भूभाग से संबंधित व्यक्तियों का वह समूह है जो विशेषतः स्वयं की एक सरकार प्राप्त करने हेतु हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं। भारत की जनता ने ब्रिटिश शासन के विरूद्ध स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया था इस प्रकार कहना समीचीन नहीं होगा कि राष्ट्रीय चिंतन एवं राष्ट्रवाद की विचारधारा केवल पराधीन जनता में ही पायी जाती है।राष्ट्रवाद की भावना प्राचीनकाल से ही आस्तित्त्व में रही है इतना ही नहीं है राष्ट्रवाद का जन्म पश्चिम में हुआ। जबकि पूर्व के लोग बिल्कुल अनभिज्ञ थे। संस्कृतशास्त्र के प्राचीनग्रंथ ऋग्वेद के कुछ अंशों में राष्ट्रवाद के आधारभूत सिद्धांत दिखाई पड़ते हैं। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में आर्यों ने भूमि के रूप में धरती माता का यशोगान किया गया है-

अत्रापिभारतंश्रेष्ठं, जम्बूद्वीपेमहामुने।
यतोहिकर्मभूरेषां, ह्यतोऽन्या भोगभूमयः।।[२]
गायन्तिदेवाःकिलगीतिकानि, धन्यास्तुतेभारतभूमिभागे।
स्वर्गापस्वर्गास्पदमार्गभूतेभवन्तिभूयःपुरूषःसुरत्वात।[३]

वायुपुराण में भारत को अद्वितीय कर्मभूमि बतलाया गया है। भागवतपुराण में भारतभूमि को संपूर्ण विश्व में पवित्र भूमि कहा गया है। इस पवित्र भारत भूमि में देवता भी बारंबार जन्म लेने की अभिलाषा रखते हैं। क्योंकि सत्कर्मों के द्वारा वैकुण्ठधाम को प्राप्त किया जा सकता है-

यदा वयं हि लिप्स्यामों जन्मभारत-भूतले।
कदापुण्येन महता प्राप्यस्यामः परमपदं।।[४]

महाभारत के भीष्मपर्व में भारत की महिमा का गान किया गया है जो हम सभी के लिए अनुकरणीय हैं-

अत्र तेकीर्तिष्यामिवर्षभारतभारतं, प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोवैवस्वतस्य।
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणांवलीयसां,सर्वेषामेवराजेन्द्रप्रियंभारतभारतं।।[५]

गरुणपुराण में राष्ट्रीय चेतना की भावना जो व्यक्त की गई है वह हम सभी को देश के प्रति समर्पण का भाव दिखाता है-

स्वाधीनवृत्तःसाफल्यं न पराधीनवृत्तिता।
में पराधीनकर्मणोंजीवन्तोऽपितेमृताः।।[६]

प्रो० वायुनन्द मिश्र जैसे आधुनिक विद्वान् जिन तत्वों को प्राणभूत मानते हैं, वे सभी तत्व प्राचीन संस्कृत शास्त्रों में दिखाई पड़ते हैं। राष्ट्रवाद के लिए सबसे प्रमुख तत्व भौतिक भूमि है जो भारतीय भूमि काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैली हुई है। यह भूमि प्राकृतिक संपदा से

भरपूर है। प्राचीनकाल में भारतीयों ने इस संपदा का उपयोग आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी एवं आत्मनिर्भर होने के लिए किया करते थे और सभी का अपने देश के प्रति अनुराग भी रहा। वस्तुतः संस्कृतशास्त्रों के धर्मतत्व एवं अध्यात्मचिंतन ने इतिहासकारों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया। संस्कृतशास्त्रों में भारतीय राष्ट्रीय चिंतन एवं जीवन के अन्य पहलुओं की परिचर्चा की गयी है, जो भारत को समृद्ध राष्ट्र पोषित करते हैं।

प्रस्तावना

राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने में संस्कृतशास्त्रों का योगदान सराहनीय है। राष्ट्रवाद से सामुदायिक भावना का विकास तथा लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना से ही राष्ट्र समृद्व होता है। देश की रक्षा, हित, संगठन, एक समाज के जातीय स्वरूप के विकास की आकांक्षा राष्ट्रीय चेतना का अविभाज्य अंग है, जिसमें चेतना के तीन स्तर माने गये हैं-

(१) चेतन

(२) अवचेतन

(३) अचेतन

चेतन स्तर पर वे सभी बातें रहती हैं जिनके द्वारा हम सोचते समझते और कार्य करते है चेतना में ही मनुष्य का अहंभाव रहता है और यही विचारों का संगठन होता है। अवचेतन स्तर वे बातें रहती हैं जिनका ज्ञान हमें तत्क्षण नहीं रहता परंतु समय पर की जा सकती है। राष्ट्रीय चेतना का उद्देश्य शांति की स्थापना, देश की समृद्धि, नागरिकों के विकास में सहायक तथा नागरिकों में एकजुटता की भावना को पैदा करता है। भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास हेतु आधुनिक शिक्षा प्रणाली, भारतीय गौरव एवं संस्कृति की पुनः खोज करने की आवश्यकता है। वेदों के अनुसार चेतना मानव-मस्तिष्क में प्रवाहमान वह शक्ति है जो मनुष्य को निरंतर चैतन्यता प्रदान करती है। चेतना ज्ञानात्मक, भावात्मक, एवं क्रियात्मक त्रिविध स्वरूपा है। चेतना का गति नामक गुण ही उसमें परिवर्तन का कारण होता है। चेतना के आभाव में गतिविहीनता दिखाई देती है। भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए सीखने समझने की क्षमता को शामिल किया जा सकता है। राष्ट्रीय भावना का तात्पर्य अपने देश के लिए प्रेम और धार्मिक भावना का प्रकट होना ही है। हम सभी भारतीय बहन-भाई राष्ट्रीय प्रतीकों, राष्ट्रीय ध्वज एवं राष्ट्रगान के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता का भाव प्रकट कर सकते हैं-

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग भवेत्।। [७]

संस्कृतशास्त्रों में यह प्रार्थना की गयी है कि 'हे ईश्वर! सभी सुखी रहें, सभी निरोगी रहें, सभी मंगलमय घटनाओं के साक्षी बने और किसी को दुःख का भागी न बनना पड़े। राष्ट्र की चेतना-प्राणशक्ति समाज से जुड़ी हुई हैं। राष्ट्रीय चेतना ने राष्ट्र की अस्मिता, राष्ट्र का

गौरवगान, राष्ट्र का परिवेश, राष्ट्र का उन्मेष, राष्ट्र के प्रति नागरिकों की सोंच एवं अनुभूति का दायरा विकसित होता है। राष्ट्रीय चेतना के विकास में आधुनिक साहित्य एवं साहित्यकारों का योगदान अविस्मरणीय रहा है। राष्ट्रीय चेतना का उद्‌भव उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी शासनकाल के दौरान हुआ। राष्ट्रीय चेतना की जागृति हेतु राष्ट्रीय नायकों एवं नागरिकों को जिम्मेदार बनाया जाना चाहिए। राष्ट्र शब्द एवं समाज के अर्थ में ही अधिकांशतः प्रयुक्त होता है जिसे क्षण समुदाय में एकता की एक सहज लहर हो, उसे राष्ट्र कहते हैं। वेद परमात्मा के निःश्वास स्वरूप है। वेद एवं योग एवं दूसरे के समन्वय सेतु कहे जा सकते हैं। राष्ट्रीय चेतना को समझकर एवं अपनाकर व्यक्ति अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत कर सकता है।

बीज शब्द

वेदऽखिलोधर्ममूलम् राष्ट्रीयचिंतन, वसुधैव कुटुंबकम्, जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयशी, वैदिक परंपरा, निःश्वासित वेद, भूयः पुरुषः सुरुत्वात, जम्बूद्वीप, भोगभूमयः, भारतभारतम, स्वाधीनकृतं।

शोधप्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख में विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक शोध पद्धति का उपयोग कर निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

संस्कृत शास्त्र के प्राचीनतम् ग्रंथ ऋग्वेद ही कहें जाते हैं। ऋग्वेद के मंत्रों में राष्ट्रवाद के आधारभूत सिद्धांतों का अस्तित्व सर्वप्रथम दिखाई पड़ता है। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में आर्यों ने भूमि के रूप में धरती माता का यशोगान किया गया है। 'भारत भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।' विष्णुपुराण में तो राष्ट्र के प्रति समर्पण चरमोत्कर्ष पर दिखाई पड़ता है। राष्ट्रवाद का मूल उद्देश्य अपनी मातृभूमि पर राष्ट्र की संप्रभुता हासिल करना और उसे बनाए रखना व्यक्ति का मूल उद्देश्य होना चाहिए। राष्ट्रवाद के प्रमुख तथ्वों में भौगोलिक क्षेत्र, जनसमुदाय, संस्कृति, राष्ट्र के प्रति श्रद्धा के भाव को शामिल किया जाता है। पौराणिक साहित्य में भारतीय भूखंड चारों ओर प्राकृतिक मेखला से गिरा हुआ होने के कारण सुरक्षित बताया गया है। नीतिवाक्यामृतम् में राष्ट्र को विषय कहा गया है। इतना ही नहीं महाराज मनु के अनुसार राष्ट्र एक शासित प्रदेश है जो सभ्यता एवं संस्कृति शक्ति के रूप में कार्य करता है। जो सामूहिक पहचान को आकार देती है। भारतीय संस्कृति की विविधतापूर्ण विरासत ने राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है-

अपि स्वर्णमयी लंका न रोचते लक्ष्मणः।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।। [६]

भारतीय संस्कृति में माता एवं जन्मभूमि स्वर्ग को से बढ़कर होने की कल्पना की गयी है। राष्ट्रवाद एक ऐसी शक्ति एवं मनःस्थिति है जिसमें व्यक्ति की सर्वोच्च राष्ट्रभक्ति उसके राष्ट्र

एवं राज्य के प्रति समर्पण का भाव दिखाती है। ब्रिटिश लोगों के कारण ही भारत में राष्ट्रवाद की भावना ने जन्म लिया। राष्ट्रीयता की चेतना ब्रिटिश शासन की देन है। इसके पहले भारतीय इस चेतना से अनभिज्ञ थे। वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना वैदिककाल से ही अस्तित्व में रही हैं।

देश प्रेम की भावना का प्रचार-प्रसार प्राचीनकाल में किस प्रकार हुआ होगा। इस संबंध में कुछ भी कह पाना अत्यंत कठिन कार्य है। प्राचीन भारत में राष्ट्रभक्ति का स्वरूप आध्यात्मिक भावना से भरा हुआ है। राष्ट्र प्रेम की भावना को धर्म की भावना के रूप में जाना जाता है। भूमि को 'देवभूमि' कहने का यही कारण है। राम एवं कृष्ण को भी देवों का अंश माना जाता था। सभी राजवंश को सूर्य या चंद्रदेव के वंशज बताये जाते थे। प्राचीन राष्ट्रवादी भावना संकुचित नहीं थी। उस समय संपूर्ण पृथ्वी को अपनी माता मानकर भारतवासी खुद को उसके पुत्र मानते थे। किसी भी भावना को धर्म के साथ जोड़ने से उसका प्रचार-प्रसार सरलतापूर्वक एवं व्यापक स्तर पर हो जाता है।

भारत में बारह ज्योर्तिलिंग एवं बावन शक्ति के (मंदिर) केंद्र हैं। इन सभी के भौगोलिक स्थिति को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये एक दूसरे से काफी दूर है तथा संपूर्ण भारत में फैले हुए हैं। सोमनाथ, केदारनाथ, मल्लिकार्जुन, रामेश्वरम् आदि ज्योतिर्लिंग। इन सभी के दर्शन को पवित्र माना गया है। इस तरह संपूर्ण भारतवासी एक दूसरे से जुड़ जाते हैं। प्रातःकाल में स्नान के साथ प्रत्येक भारतीय नर्मदा, सिंधु, कावेरी, गंगा, यमुना, गोदावरी और सरस्वती इन सात पवित्र नदियों का स्मरण मात्र करने से व्यक्ति बिना स्नान के पवित्र हो जाता है। भारत में काशी, मथुरा, अयोध्या, द्वारावती, माया, कांजूची अवंती यह सात धाम मोक्ष देने वाले माने गये हैं। जो व्यक्ति मुक्ति चाहता है उसे इन धामों की यात्रा करनी चाहिए। इन सभी को एक समान पवित्र माना गया है। मृत्यु के बाद हिंदू परंपरा में जो कर्मकांड किये जाते है। वे नदियाँ एवं उनके संगम पवित्र माने गये है। मृत व्यक्ति का अंतिम संस्कार जिस स्थान पर किये जाते है। उसके परिवारीजन स्वाभाविक रूप से जुड़ जाते हैं। व्यक्ति समुचित भौगोलिक सीमाओं से मुक्त होकर आपस जुड़ जाता है। व्यक्ति चाहे शैव हो या वैष्णव। समस्त सम्प्रदायों के धर्म स्थान पूरे भारत में फैले हुए हैं। राष्ट्र भावना केवल धर्म भावना से अनुप्राणित होती है। जिससे भारत का पूर्ण विकास होना असंभव प्रतीत होता है। श्रीमद्भवदगीता में राष्ट्रवाद की भावना के संबंध में बताया गया है -

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। [६]

राष्ट्रवाद के संबंध में गीता का श्लोक प्रभावपूर्ण है परंतु उच्चारण करना कठिन ही प्रतीत होता है-

'अहं सर्वस्य प्रभवोमत्तः सर्वं प्रवर्तते'। [१०]

जिसमें मैं सभी अध्यात्मिकता एवं भौतिकता का स्रोत हूँ और जो कुछ भी निकलता है वह मुझसे ही निकलता हैं सभी उसको धारण या ग्रहण करते हो। राष्ट्रवाद के समर्थन को श्रीमद्भगवत गीता का पहला श्लोक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं सार्थक प्रतीत होता है

धर्मक्षेत्रे च कुरुक्षेत्रे समवेतायुयुत्सवः।
मामेकाः पाण्डवाश्चैव किं कुर्वत संजय।। [११]

जब राष्ट्र में विनाशशील शक्तियाँ सक्रिय होती है उस समय श्रीमद्भगवद्गीता से व्यक्ति को प्रेरणा एवं शिक्षा संपूर्ण जगत को ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि गीता में कर्तव्य का पालन करने पर बल दिया गया है यह कर्तव्य राष्ट्र के प्रति भी हो सकता है जिससे राष्ट्र भक्ति की भावना भी जागृत हो सकती हैं -

वासुदेव सुतं देवं कंस चाणूरमर्दनम्
देवकी परमानंद कृष्णं वन्देजगतगुरुम्।।
देवकीसुतं गोविंद वासुदेव जगत्पते।
देहि में तनयं कृष्ण त्वांमहं शरणं गतः।।१२

राष्ट्र ही परमेश्वर की एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति में राष्ट्र प्रेम, भक्ति एवं शक्ति का संचार कर सकती है। चराचर जगत में गुरू का स्थान सर्वोपरि बताया गया है जिसकी शिक्षा हर व्यक्ति मानता एवं सम्मान करता है-

गुरुर्ब्रम्ह गुरर्विष्णुः, गुरुदेर्वो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परंब्रह्म, तस्मैश्री गुरुवै नमः।। [१३]

योग साधना के द्वारा ऋषियों मुनियों ने अनेकानेक सिद्धियों को प्राप्त किया हैं। आयुर्वेद का सेवन करते हुए हजारों वर्षों की आयु को प्राप्त करते थे। योग एवं आयुर्वेद एक दूसरे के एवं कोटिपूरक एवं आभूषण माने गये है। वैदिक सभ्यता राष्ट्रवाद का उद्भव काल रहा है। वेद ज्ञान प्राप्ति के वे साधन हैं जिसके माध्यम से समस्त प्रकार की विधाएँ एवं ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। प्राणायाम के माध्यम से समस्त रागद्वैष, वृत्तियाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। आयुर्वेद में योगाभ्यास के माध्यम से शरीर के अवयव वाणी, नेत्र, कर्ण, श्रोत, नाभि एवं उपस्थ वायु की शुद्धि का उल्लेख प्राप्त होता है। वेद ज्ञान प्रणाली के वे अक्षयकोश हैं जिसमें सभी विषयों का समावेश दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार शरीर की रक्षा करना व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य है ठीक उसी प्रकार राष्ट्र की रक्षा, एवं उसके प्रति आदरभाव एवं समर्पित होना भी प्रथम उद्देश्य होना चाहिए। यदि राष्ट्र समृद्धि नहीं होगा तो वहाँ निवासित नागरिकों का जीवन दुष्कर हो जाएगा। इसलिए व्यक्ति को राष्ट्र समृद्ध बनाने के प्रति कर्तव्यों का अनुपालन करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह राष्ट्र के प्रति समर्पित रहे। कहा गया है कि-

नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे, त्वयाहिंदु भूमे सुखंवर्धितोऽहं।
महामंगले पुण्यभूमे त्वदर्थे, पतत्वेद कायो नमस्ते-नमस्ते।। [१४]

हे! वात्सल्यमयी मातृभूमि तुम्हें मैं कोटिशः नमन करता हूँ। तुम्हारी सेवा में अगर मुझें अपने प्राणों की आहुति भी देने पड़े तो मुझे कोई एतराज नहीं है। भारतीयता एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक 'सत्यमेव जयते' हिंदू धर्मग्रंथ मुण्डकोपनिषद् से लिया गया है जिसका तात्पर्य है कि सत्य की जीत होती है। भारत की आजादी के बाद २६ जनवरी १९५० को इसे राष्ट्रीय आदर्शवाक्य के रूप में अपनाया गया। इतना ही नहीं महाकविकालिदास के अभिज्ञानशाकुंतलम्, विक्रमोवंशीयम्, मालविकाग्निमित्रम् जैसे नाटकों को राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत दिखाया गया है। भारतीयता हेतु विष्णुपुराण में कहा गया है कि-

"उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। [१५]
वर्षतद् भारतं नाम भारती यत्र संतति"।। [१६]

कहने का तात्पर्य है कि समुद्र के उत्तर एवं हिमालय के दक्षिण में जो भूमि है उसे भारत भूमि कहा जाता है। हम समस्त भारतवासी इसकी संतानें हैं। छान्दोग्यउपनिषद में 'एकोऽहं वहुस्यामः' के जरिये यह स्पष्ट करने का भरसक प्रयास किया गया है कि मैं एक ही हूँ लेकिन बहुत रूपों में प्रकट होता हूँ। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना का प्रचार-प्रसार संस्कृत शास्त्रों ने किया है-

यत्रधर्मस्तत्र जयः। [१७]

जहाँ एकता राष्ट्रीय रूप में होती है वही विजय होता है। अगर एकता नहीं होगी तब तक हम दिग्विजयी नहीं हो सकते हैं। इस मंत्र से हमें शिक्षा मिलती है। हम सभी को मिलजुलकर रहना चाहिए-

'सर्व खल्विद्रं ब्रह्मा' [१८]

संपूर्ण संसार का एक चराचर स्वामी है जो राष्ट्रीय भावनाओं का प्रेरक है। वही हमें किसी कार्य को करने की प्रेरणा प्रदान करता है। नारियों का राष्ट्रीय भावना के विकास में योगदान को नकारा नहीं जा सकता है। इन्हें मातृशक्ति के रूप में मान्यता पुराणों एवं वेदों में गयी है-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूजन्ते सर्वातत्रास्फलाक्रियाः।। [१९]

कर्महीन एवं आलसी व्यक्ति कभी राष्ट्रवाद की परिकल्पना को साकार नहीं कर सकता है, जिस प्रकार आलसी व्यक्ति कभी विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता है-

आलस्य कुतो विद्या, अविद्यस्य कुतोधनम्।
अविद्यस्य कुतो मित्रम्, अमित्रस्य कुतो सुखम्।। [२०]

राष्ट्र में निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्रवाद की भावना का विकास नहीं हो सकता है राष्ट्रवाद का विकास कुछ ही व्यक्तियों में पाया जाता है जैसे-

शैले-शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे-गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चंदनं न वने-वने।। [२१]

चराचर जगत विविध प्रकार के जीवों से आच्छादित है, जिसमें कुछ कार्यशील एवं कुछ अकर्मशील भी रहते हैं ठीक उसी प्रकार राष्ट्रवाद के भाव भी सामान्य प्राणी में देखे जाते हैं-

येषां न विद्या तपो न दानं ज्ञानं न शीलं गुणों न धर्मः।
ते मंर्त्यलोके भुविभारभूताःमनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति।। [२२]

जिस व्यक्ति के पास विद्या, तप, ज्ञान, शील-गुण, धर्म में से कुछ नहीं है वह मानव केवल ऐसे जीवन व्यतीत करते हैं जैसे शींग एवं पूँछ से रहित पशु। इस संसार में परिश्रम के बिना कुछ मिलने वाला नहीं है। संस्कृत शास्त्र में कुछ श्लोक ऐसे है जो हमें जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करते हैं-

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति, कार्याणि न मनोरथैः।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य, प्रविशन्ति मुखे मृगाः।। [२३]

विद्या को मनुष्य को सर्वांगभूषण की संज्ञा दी गयी है। किन्तु विद्या को ग्रहण करने में गुरु की भूमिका महत्वपूर्ण होती है क्योंकि कि गुरु गोविन्द से बड़ा बताया गया गुरु ने ही गोविन्द से मिलने का रास्ता बताया है। विद्या इस संसार का जीवन दर्शन करा सकती है। इतना ही नहीं वही विद्या राष्ट्रीय भावना का उद्‌गार भी कर सकती है-

विद्या नरस्य रूपंधिकं, प्रच्छन्नगुप्तं धनमूं।
विद्याभोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।। [२४]

विद्या मनुष्य का सर्वोत्तम एवं सुंदर रूप है। इतना ही नहीं यह सुरक्षित एवं सर्वोत्तम धन भी है। इसको कोई न चुरा सकता है न तो भाई - बंधु बँटवारा कर सकते हैं। यह जिसके पास रहती है वह हमेशा शोभायमान होती रहती है-

विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति, धनादधर्म ततः सुखम्।। [२५]

विद्या से अलंकृत मनुष्य हमेशा विनम्र होता है। विद्या द्वारा पात्रता आती है तथा पात्रता से नम्रता आती है और पात्रता से धनार्जन भी करता है। फिर धन द्वारा धर्म कार्यों एवं राष्ट्र के कार्यों का निष्पादन करता है। निष्पादनोपरांत सुखों का भोग करता है। जो व्यक्ति राष्ट्र को सुरक्षित एवं सपनों को पूरा करने की क्षमता रखता है। वह हर मुश्किल को पार करने लेता है। सपनों की कोई उम्र नहीं होती बस उसे देखने का जज्वात होना चाहिए। हमेशा अपने दिल

की सुनो वह तुम्हें सही दिशा दिखायेगा। दूसरों पर भरोसा मत करो। मेहनत करने वालों की कभी हार नहीं होती है। बस अपने हौसले को बुलंद रखने की आवश्यकता होती है। हिंदू महाकाव्य महाभारत में आया है जहाँ धर्म है वहाँ विजय होती है- ''यतो धर्मस्ततो जयः'' धर्म के बिना विजय की कामना साकार रूप नहीं ले सकती है। धर्म के आभाव किसी प्रकार की परिकल्पना निरर्थक प्रतीत होती है। कहा गया है-

दुग्धेन धेनुः कुसुमेन वल्ली, शीलेन भार्या कमलेन तोयं।
गुरुं विना भॉति न चैव शिष्यं शमेन विद्या नगरी।। [२६]

किसी भी परिवार राष्ट्र के विकास हेतु इन सभी गुणों का संगम होना आवश्यक माना जाता है, जब तक धरती को माँ के समान प्यार नहीं करेंगे तब तक हम सच्चे मायने में राष्ट्रभक्त कहलाने के योग्य नहीं हो सकते। भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत शास्त्रों ने राष्ट्र को माता-पिता बंधु मानने की परिकल्पना की गयी है-

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वमम् देव-देव।। [२७]

गुरु को माता-पिता, ईश्वर के रूप में बतलाया गया है-

गुरुगोविंद दोउ खड़े, काके लागो पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय।। [२८]

प्रस्तुत पंक्ति में राष्ट्रभक्ति के प्रति समपर्ण का भाव झलकता है और भारतीयता होने का भी बोध कराता है। व्यक्ति में त्याग एवं बलिदान होना आवश्यक है। तभी सच्चे मायने में हम देश भक्त कहलाएंगे।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि संस्त शास्त्रों में राष्ट्रीय चिंतन की अवधारणा यह प्रकट करती है कि हमें राष्ट्र के प्रति समपर्ण की भावना से कार्य करना चाहिए। माता एवं जन्मभूमि स्वर्ग से बढ़कर है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' 'धर्मो रक्षति रक्षितः' धर्म उनकी रक्षा करते है जो धर्म की रक्षा करते हैं। 'धर्मो विग्रह्वान धनं' धर्म ही मानव का सबसे बड़ा धन है। 'सत्यमेव जयते' अगर व्यक्ति धर्म पर चल रहा है तो विजय उसकी अवश्य ही होगी। 'अहिंसा परमोधर्मः' अहिंसा का धर्म सबसे सर्वोच्च धर्म है व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति समपर्ण भाव होना चाहिए। जो भारत माँ का नहीं वह किसी का नहीं। भारतीय संस्कृति में जननी एवं जन्मभूमि को श्रेष्यकर बताया गया है। इससे बढ़कर संसार में कुछ नहीं है-

यस्मिन् देशे वयं जन्म धारणं कुर्मः, स हि अस्माकं देशः जन्मभूमि वा भवति।। [२९]
जननी इव जन्मभूमिः पूज्या आदरणीया च भवति।

देश एवं पिता का व्यक्ति के विकास में सर्वथा अविस्मरणीय योगदान होता है जिसको भुलाया नहीं जा सकता है।माता-पिता, गुरु एवं देश के ऋण को कभी भी चुकाया नहीं जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. महोपनिषद, ४/७१
२. श्री विष्णु पुराण २/३/२२
३. वही, २/३/२४
४. श्रीमद्भागवद्गीता ८/४
५. महाभारत भीष्मगपर्व २/२८
६. गरुणपुराण ६/२८/२४
७. तैतरीयोपनिषद्, कृष्णा वल्लीा
८. बाल्मीकि रामायण, लंकाकाण्ड
९. श्रीमद्भागवद्गीता ४/७
१०. वही, १०/८
११. वही, १/१
१२. श्रीकृष्ण-स्तुति विषयक मंत्र
१३. गुरु स्तुति परकमंत्र
१४. पं. मदनमोहन मालवीय, रचित ग्रंथ मातृभूमिः का ध्येय वाक्य
१५. वंकिमचंद्र चटर्जी- वंदे मातरम्, वर्ष १९८९, भारतीय प्रकाशन दिल्ली-०२
१६. प्राचीन भा.सा., भारतग्रंथ, पृ. सं. २८
१७. महाभारत भीष्मपर्व, २/१३
१८. श्रीमद्भागवद्गीता- ७/१९
१९. मनुस्मृति ३/५६
२०. चाणक्य नीति ४/५
२१. वही ४/७
२२. चाणक्य नीति ४/१८
२३. वृहदारण्यीक उपनिषद् १/१
२४. चाणक्य नीति ९/१३
२५. हितोपदेश, मित्रलाभ १/१
२६. हितोपदेश मित्रलाभ १/२
२७. श्रीमद्भागवद् महापुराण के (स्कंदपुराण)

२८. कबीर ग्रंथावली
२९. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त
३०. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड
३१. मनुस्मृमति २/३

-सहायक आचार्य
भारतीय भाषा विभाग (संस्कृत-भाषा)
महात्माभ गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
महाराष्ट्र-४४२००१
संपर्क- ९४५२४६६२४९
ईमेल : drramkripalv@gmail-com

ममता कालिया की कहानियों में चित्रित नारी की समस्याएँ

–डॉ० नवीनचन्द्र डी० वाघेला

समकालीन महिला कथाकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखने वाली ममता कालिया में साहित्य की अनेक विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। इनमें प्रमुख तौर पर उपन्यास और कहानी साहित्य में उनका विशेष योगदान रहा है। ममता जी ने अपने साहित्य के माध्यम से आधुनिक समाज की विभिन्न समस्याओं को हमारे सामने रखा है। उनकी कहानी और उपन्यास में ज्यादातर महिला केंद्रित रहे हैं। उनके साहित्य में स्त्री की विभिन्न समस्याओं को उभारा गया है। उनकी कहानियों में प्रेम संबंध, पारिवारिक घुटन, दैहिक स्वच्छंदता, विवाह प्रथा का निषेध जैसी विवाहपूर्व की समस्याएँ, पति-पत्नी के बनते बिगड़ते रिश्ते, प्रेम विवाह से उपजे मोहभंग, घरेलू कामकाज में कैद औरत, अकेलापन एवं घुटन, और सुरक्षित पारिवारिक माहौल, नौकरी पेशा नारी, विधवा नारी आदि जैसी कई समस्याओं को चित्रित किया गया है। उपर्युक्त विभिन्न समस्याओं को ममता जी की विभिन्न कहानियों के उदाहरणों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

विवाहपूर्व की समस्याएँ

इस दुनिया के निर्माण के अहम पात्रों पुरुष और स्त्री अपने आप में पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण है। पूर्ण बनने के लिए उन्हें एक दूसरे की अत्यंत आवश्यकता होती है। वर्तमान भारतीय समाज में जहां कन्या के विवाह पूर्व जीवन की समस्याएँ सिर उठा रही है वहां विवाहोपरांत जीवन की समस्याएँ भी आए दिन प्रकाश में आ रही है। ऐसी कई समस्याओं को ममता जी ने अपनी कहानियों में उद्‌घाटित किया है।

प्रेम

इस स्त्री और पुरुषमय संसार में प्रेम ही जगत का आधार है। वैसे भी मनुष्य को जो कुछ अच्छा लगता है, जो उसकी ज्ञानेंद्रियों को आकर्षित करता है, जो विषय उसे अच्छे लगते हैं उनसे उसे प्रेम हो जाता है। आजादी के बाद जी के विवाह पूर्व प्रेम संबंध में वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तर पर अधिक निर्भर हुए हैं जिनमें कुंठा, तनाव, द्वंद्व, पटका और शोषण आदि की स्थितियां अधिक सामने आई है। वर्तमान जीवन की नीरसता के परिणाम स्वरूप

संवेदनशील प्रेम संबंधों में आने वाली दरारें एक तरफ से बुद्धिवादिता की ही उपज कही जा सकती है। अतः शादी के पहले प्रेम संबंधों के प्रति सचेत युवतियां ममता जी की कहानियों से पृथक् न रह सकी। 'छुटकारा' कहानी की नायिका अपने प्रेमी बदरा की बुद्धिवादी सोच के कारण, प्रेम संबंधों को उचित अंजाम न दे सकने से व्यथित है। अपने अव्यक्त प्रेम संबंधों की वैचारिक जटिलता का बोध उसे हो चुका है। वह सोचती भी है- ''मैं चुप हो गई। मैं घर जाना चाहती थी। असल में मैं आना ही नहीं चाहती थी। चलते हुए मुझे लगा था जैसे मैं शून्य में शून्य से समय नियत कर रही हूं।''[१] और प्रेम संबंधों के साथ-साथ बत्रा से छुटकारा पा लेती है वह। इसी तरह 'बेतरतीब' कहानी की नायिका संतोष के प्रेम की स्थिति इसके विपरीत हैं। वह प्रेम का अनुभव प्राप्त करने के लिए लालायित है। कला केंद्र में काम करने वाले आनंद को अपने प्रति आकर्षित करने के बहाने वह कहती भी है- ''आनंद जी, आप घर नहीं आए कभी ?...तुम बड़े पेसिव हो आनंद !''[२] वह निरंतर आनंद को अपने प्रेम संबंध में बांधने के लिए प्रयत्नशील रहती है।

विवाह पूर्व प्रेम संबंधों में नारी को पारिवारिक यातनाओं का शिकार भी होना पड़ता है। प्रेमी एवं परिवार में से किसी एक का उसे चयन करना पड़ता है जो एक जटिल परीक्षा के रूप में सामने प्रस्तुत होती है। 'दो जरूरी चेहरे' की मिनाती अपने दो तरफा प्रेम संबंधों को बनाएँ रखने की प्रयास मात्र से कुंठित होती है। जहां प्रेम संबंधों में ''दिन पर दिन श्याम की, प्यार करने की ताकत और बढ़ जाती थी और उसकी बांहों में मेरा बदन कपूर की तरह मानो उड़ जाता।''[३] वहां श्याम और भाई साहब के रिश्तो का तनाव देखकर मन उदास हो जाता। भाई और प्रेमी जैसे दो परस्पर बिंदुओं को संतुलित बनाने का वह प्रयास भी करती थी किंतु वह अनुभव करती- ''कभी-कभी श्याम जाता, वह और भाई, आमने-सामने, चुप बैठे रहते, सिर्फ मैं शोर मचाती रहती। मैंने यह बहुत बाद में गौर किया कि मिलने पर न कभी भाई खुश हुए न श्याम !''[४] और फिर दो बुद्धिवादी पुरुषों मिनाती का 'स्व' लड़खड़ा जाता है।

सामान्य रूप से प्रेम संबंधों के मूल रूप में मानसिक उलझन तथा पीड़ाओं की उपस्थिति स्वाभाविक ही है। इस पीड़ा से अलग होकर प्रेम को व्यक्त रूप देने की लालसा स्त्री में भी होती है। 'मुखोटा' कहानी की अपर्णा अपने प्रेमी श्रवण के प्रेम में समर्पित होकर भी स्व-अस्तित्व के प्रति सचेत दिखाई देती है। इसी कारण ''अर्पणा को कोई कुंठा नहीं। वह अपनी देखभाल बखूबी कर सकती है। उसके साथ शिवम में बैठकर आइसक्रीम खाई जा सकती है। करण दक्षिणी में दोसा इतना बड़ा होता है कि ४० मिनट तक उसके साथ बैठ सकता उतना गैर मुमकिन भी नहीं।''[५] शायद अपर्णा का आकर्षण किसी दूसरे की तरफ था। क्योंकि श्रवण के 'मुखौटे' का कलात्मक रूप से ज्ञात हो चुका था। इस प्रकार ममता जी ने

विवाह पूर्व प्रेम संबंधों में नारी मन की राहों में दूर तक उतर कर उसकी कोमल भावनाओं को समझने, जानने एवं परखने की ईमानदार कोशिश की है। पानी कहां भी हो वह समुद्र की ओर लालायित रहता है उसी तरह स्त्री और पुरुष एक दूसरे से आकर्षित रहते हैं। पानी कहीं भी हो, वह समुद्र के लिए लालायित रहता है और उम्र कोई भी हो, मनुष्य प्रेम के लिए तरसता रहता है। इन नारी पात्र को प्रेम संबंधों में जहां कुछ गुम हो जाने का एहसास होता है, वहां कुछ प्राप्त हो जाने का तीव्र एहसास भी है। दरअसल वह प्रेम इसलिए करती है कि उसे जीने का ढंग आ जाए और जीती इसलिए कि उन्हें प्यार करने का कौशल मालूम हो जाए। प्रेम की राह पर चलते ही सुख-दुख की चेतना उनमें आ जाती है।

पारिवारिक तनाव तथा शोषण

आजादी के बाद नारी के विवाह पूर्व पारिवारिक सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों में जटिलता का अंतर्भाव दिखाई देता है। जिसमें कुंठा, तनाव, द्वंद्व, भटकाव और शोषण की स्थितियां अधिक सामने आई है। इसमें एक और पारिवारिक, सामाजिक कारण और दूसरी ओर वैयक्तिक कारण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। व्यक्तिगत कारणों की अधिकता का कारण स्त्री का घर से बाहर आना तथा अनेक पुरुषों से संपर्क स्थापित होना है। ममता जी की अधिकांश कहानियों की नायिका है इन्हीं कारणों से पारिवारिक, सामाजिक व्यवस्था के तहत छली गई है। इस वर्तमान व्यवस्था से विद्रोह करने की चेतना उनमें आकार ले रही है।

जीवन की व्यस्तता एवं अकेलेपन को सहने वाली 'बेहतरीन और वह' कहानी की बहन अपने बीमार भाई के प्रति संवेदनशील बनी हुई है। एक ही शहर में अलग-अलग रहने के बावजूद भी पारिवारिक संबंधों को बरकरार रखने के प्रयत्न मात्र से बीमार भाई प्रयाग के घर जाकर कहती है- ''तुम कुछ देर के लिए सो जाओ। दवाइयां समय पर ले लेना। ज्यादा बातचीत मत करना। एक दो बार सिंकाई जरुर कर लेना।''[६] अकेलेपन से त्रस्त, सुशिक्षित, नौकरी पेशा, अविवाहित बहन को जीवन की जटिलता में भी पारिवारिक संबंधों के निर्वाह का बोध हुआ है। पुरुष इतना संवेदनशील हो नहीं सकता। 'बीमारी' कहानी की अविवाहिता, नौकरी पेशा नारी का बीमारी के कारण और असहाय स्थिति में हो जाती है। गांव से भाई तो आता है किंतु बहन की सेवा करने के स्थान पर बहन की बीमारी में अपने खर्च का हिसाब ही लगा देता है। बेचारी बहन का मानस कह उठता है-"कैसे मैं अपने पास ही रख रही हूं जरूरत पड़ सकती है। तुम चेक ले लोगे ?''[७] अपने अस्तित्व की चेतना स्वर्ण में छलक उठे और वह अस्पताल में शरीक होने चल पड़ी।

सुशिक्षित, नौकरीपेशा, विवाहिता स्त्री आज सर्व स्तर पर अपने स्व के निर्धारण में सचेत दिखाई देती है। 'जिंदगी सात घंटे बाद की' कहानी की नायिका आत्मीय अपने मन की

झुनझुनाहट का चिंतन करते हुए अपने स्व को खोजना चाहती है। ''उसे दिन-ब-दिन लगता है, पाँच बजे के बाद वह जिंदगी जीती नहीं, बिताती है। पाँच बजे के बाद वह कुछ नहीं बचती। उसके व्यक्तित्व के पास रोज सिर्फ सात घंटे जीने को है-दस से पाँच। अफसर से हटकर उसका कोई हेल्प नहीं है।''[८] मुझे पता है, रोज सात घंटों का वजीर बनाया जाता है और शेष १७ घंटे वह ६ नकुछ्ता के बोझ से दब जाती है। नारी अस्तित्व को निर्णायक रूप देने में परिवार में माता-पिता की जिम्मेदारियां भी महत्व रखती है। 'खाली होता हुआ घर' कहानी की नायिका सुमित्रा अपने माता-पिता के संबंधों में स्थित तनावग्रस्त परिवेश का अनुभव कर स्वयं भी मानसिक दृष्टि से क्षुब्ध हो जाती है। पारिवारिक तनाव के मध्य उसने अपने लिए एक नया मुकाम ढूंढ निकाला है। इस मुकाम पर ''दिल्ली की एक घिचपिच कॉलोनी में एक सी क्लास क्वार्टर था, एक अददलड़का था और पाँच सौ रूपये मासिक आय।... किसी औसत की शायद उसे तलाश थी।''[९] अपनी मानसिक सुरक्षितता को बनाए रखने के लिए परिवार के विरुद्ध वह प्रेम विवाह कर लेती है।

परिवार की रुढ़िग्रस्त नीतियों में घर की चारदीवारी में कैद युवा लड़की की मानसिक उलझन को ममता जी ने बड़ी ही सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया है। 'फर्क नहीं' की नायिका परिवार द्वारा अपने ऊपर लगी बंदिशों के बारे में सोचती रहती है। अपने स्वतंत्र अस्तित्व की अंदरूनी विप्लव का बोध होने से वह कहती है- ''कॉलेज से लौट कर एक दिन मैंने पाया, मेरे कमरे की खिड़की पर नीला पर्दा लटक रहा है। इसके साथ ही हदबंदी शुरू हो गई थी। रातों-रात घर में मेरे लिए प्रतिरक्षा कानून बनाकर जारी कर दिए गए थे।''[१०] परिवार की इसी रोटी ग्रस्त नीतियों में उसकी चेतना परिवर्तन लाना चाहती है- ''मेरी चेतना में आजकल एक भीषण तड़फड़ी मची हुई थी। बार-बार एक असहमत आवाज उठती-'मुझे इन लाखों-करोड़ों लड़कियों जैसा नहीं बनना है, मैं इनसे अलग हूं।''[११]

शारीरिक सुरक्षा स्त्री के लिए अहम बात होती है। चाहे वह बचपन हो या युवावस्था या वृद्धावस्था। 'आपकी छोटी लड़की' की नायिका टुनिया केवल १३ वर्ष की उम्र की छोटी लड़की है। लंबे फ्रॉक के अभाव में अपने कच्छे के प्रदर्शन यात्रा से रिक्शे में मां के पैरों से टिककर नहीं बैठना चाहती। वह सोचती है-''नहीं बैठना चाहती टुनिया इस तरह। कितनी शर्म आती है उसे।... आठवीं में पढ़ती है। कोई बच्ची तो नहीं। वह क्या घर की नौकरानी है जो पैरों के पास बैठे हैं !''[१२] देह रक्षा की चेतना उसमें बलवती है। केवल यही नहीं, क्लास में टुनिया के सवाल कभी गलत नहीं होते पर उसे सर का रवैया पसंद नहीं था। क्योंकि ''जितनी देर से बेसबॉल देखते हैं, उनका एक हाथ लड़की की पीठ पर बराबर चलता रहता है, कंधे से लेकर कमर तक के हिस्से पर।''[१३] समाज की यह विकृतियां टुनिया के चेतना को छोटी सी

उम्र में ही स्पष्ट कर जाती हैं।बचपन से ही बीमारी का शिकार होने वाली छोटी लड़की की त्रासदी को ममता कालिया ने बड़ी ही सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया है। 'मुन्नी' कहानी की मुन्नी २ साल की उम्र तक तीन जानलेवा बीमारियों से लड़-भीड़ चुकी थी, चेचक, काली खांसी और गर्दन तोड़ बुखार। क्लास में सभी लड़कियां उसकी उपेक्षा करती हैं। अपने अहम की सुरक्षा करती, एक लड़की के साथ लड़ाई करने वाली मुन्नी अपनी मदर से माफी नहीं मांगती। उसने अपने इस व्यवहार को और संगत नहीं समझा- ''मदर आप मेरे परिवार को कोस रही हैं, इन लड़कियों के परिवारों को भी देखें। क्यों, क्या इनके मां बाप यही सिखाते हैं कि दूसरी लड़कियों को अपने से नीचा समझो, उन की हंसी उड़ाओ। मैं माफी नहीं मांगूंगी।''[१४] वह छोटी लड़की अपने परिवार द्वारा दिए गए संस्कारों को उजागर करने की कोशिश करती हैं।

इस प्रकार ममता कालिया की कहानियों के नारी पात्रों अपनी पारिवारिक समस्याओं के चलते अपने हम को सुरक्षित बनाए रखने में क्रियाशील दिखाई देते हैं। वह अपने स्व के विस्तार का बोध करने में प्रबल दिखाई देती है। और इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह की चेतना से संघर्षशील दिखाई देते हैं।

अवैध संबंध

स्वतंत्रता के बाद स्त्री की यौन संबंधित दृष्टि ने उसे व्यवहार के धरातल पर भी स्वच्छंद किया है। वह सामाजिक क्षेत्र में बाहर आने से पुरुष के साथ विभिन्न प्रकार के संबंध बनाए रखने में अधिक स्वतंत्र हो पाई है। इसके परिणाम आज उसके दिमाग में नैतिकता संबंधी धारणाएं काफी बदल चुकी है। किसी एक से वफादार रहकर प्रेम करना और उसी से जुड़कर रहने वाली धारणा आज टूटती हुई दिखाई देती है। ममता जी की अधिकांश कहानियों में नारी पात्र यौन संबंधों के प्रति स्वच्छंद दृष्टि रखते हुए दिखाई देते हैं।

'अपत्नी' कहानी की नायिका लीला शादीशुदा प्रबोध के साथ बिना विवाह किए, पत्नी के जैसे अपना जीवन व्यतीत करती है। विवाह से उससे कोई संबंध नहीं है। केवल यही नहीं, प्रबोध के द्वारा पहली पत्नी को तलाक मिलने, न मिलने से भी उसे कोई वास्ता नहीं है। सहनायिका उसके घर पर आती है तो- ''लीला उठ चुकी थी और ब्लाउज के बटन लगा रही थी। जल्दी-जल्दी में हुक अंदर ही जा रहे थे।''[१५] ऐसी अवस्था में सहनायिका के जीवन दर्शन का बोध लीला को हुआ। शायद इसी कारण वह अपने और पति के बीच उन्मुक्त संबंधों में सीमा बनाए रखना चाहती है।

दैहिक स्वतंत्रता के परिणाम स्वरूप गिरते नैतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करना ममता जी का प्रमुख उद्देश्य रहा है। पश्चिमी सभ्यता के वश होकर आज मनुष्य विवाह पूर्व शारीरिक संबंध स्थापित करना चाहता है। 'पिछले दिनों का अंधेरा' कहानी की नायिका रूचि इसी

उन्मुक्त भोग की शिकार है। कहानी नायक कपूर के लिए दफ्तर से घर लौटने का अर्थ होता है, रुचि के पास लौटना। शाम को कपूर की थकान को दूर करने वाली रूचि आठ बजे तक उसके कमरे में रहती, फिर वहां उसे घर छोड़ जाता। आज ''उन्होंने अंधेरा होने पर पाया, वह दोनों साथ-साथ अंधेरे की प्रतीक्षा कर रहे थे।... अंधेरे को चीरता हुआ एक भर्राया स्वर पहले धीमे, फिर लगातार ऊंचे-नीचे शुरू हुआ... उसके शुरू होने के अचानकपन ने कपूर को धकेल-सा दिया, उसे पता ही नहीं चला कि उस चेतना में रुचि के और उसके दांतो में फंस गए थे और वह छूटने का प्रयत्न कर रही थी।''[१६] अपने दैहिक शोषण का बोध उसे आज ही महसूस हुआ। क्योंकि कपूर ने उसे, इससे पहले कभी इतना निचोड़ नहीं डाला था।

आधुनिक सोच को अपनाने वाली कुछ एक युवतियां नैतिकता की उपेक्षा करके पराए मर्द के साथ कभी कभार के एकांत की चिंता भी नहीं करती है। 'वे कहानी की अरुणा अपने आदर्श भाई साहब की चिंता किए बगैर अपने दोस्त साथ यात्रा पर निकल पड़ती हैरात में उसी के घर, उसके साथ सोती है। वैसे,.. ''यात्रा के बाद नींद बड़ी गहरी होती है, निश्चेष्ट। वैसे नींद नसों को एक-एक कर ढीला करती जाती है। कमरे में नींद थी, रजाई और कंबल के नीचे सिर्फ रोशनदान में कबूतर फड़फड़ा रहा था।''[१७] 'साथ' की नायिका सुनंदा भी अशोक के साथ सहवास का निर्णय खुद लेती है। शादीशुदा अशोक को पहली पत्नी से तलाक नहीं मिला था। सुनंदा इस बात से काफी चिंतित हैं। इधर अशोक की नकारात्मक रवैया उसे और अधिक खिन्न बना देती है। शुरू में अशोक के दफ्तर में कार्यरत सुनंदा उसके प्रेम जाल में फंस जाती है। कहानी की निम्नलिखित पंक्तियां सुनंदा की स्वच्छंद दैहिक कामना की गवाही देते हैं- ''शुरू में वह दफ्तर से उसके साथ आती थी और नौ बजे तक वापस चली जाती थी पर जब से उसके बाप ने कहा कि इतनी देर में कोई दफ्तर नहीं छूटता और चाहे वह रात के नौ पर लौटे या दिन के नौ पर, उसके लिए कोई फर्क नहीं पड़ेगा, सुनंदा को छुट्टी मिल गई थी।''[१८] उन्मुक्त यौन संबंध के हिमायती सुनंदा कुंवारी मां बनने की पक्षधर नहीं है। वह तथाकथित मान्यताओं का निषेध करके उन्मुक्त जीवन बिताने की पक्षधर है।

इस प्रकार ममता जी के नारी पात्र विवाह पूर्व अनैतिक संबंधों के प्रति आकर्षित होने पर भी अपने अस्तित्व की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देती है। दैहिक स्वतंत्रता के होने पर भी वह अपनी सुरक्षित असुरक्षित का ज्ञान रखती है। अतः उनकी चेतना समग्र बंधनों को अस्वीकार कर के आगे निकलना चाहती है।

अविवाहिता नारी की समस्याएँ

स्त्री जब अपने विवाह के पूर्व के परिवेश में अपने अनुरूप जीना चाहती है और वह जी नहीं पाती, तब वह अपने वैवाहिक जीवन से कुछ आशा रखकर जीना चाहती है। वैसे भी

समाज में नारी का अधिकांश व्यक्तित्व दूसरों द्वारा निर्धारित होता रहा है किंतु उसकी इच्छा स्वाभाविक है कि अपना व्यक्तित्व स्वयं निर्धारित करें। विवाह के पहले नारी को परिवार द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों को निभाना पड़ता है। आर्थिक एवं मर्यादा जैसी विभिन्न समस्याओं के कारण विवाह में देरी होना स्वाभाविक बात है। ऐसी परिस्थिति में नारी को अपनी भावनाएं एवं इच्छाएं दबाकर रखने। वह या तो उनको बिना विद्रोह किए चुपचाप दबाए रहती हैं या अपना आक्रोश मन-ही-मन व्यक्त करती है, या कहो वह अपने परिवेश में अपनी अस्मिता की तलाश करने लगती है।

'सीट नंबर छह' की भगवती अपना विवाह ना होने के कारण सांसारिक सुखों से वंचित है। अधेड़ उम्र में वह खुद स्वयं को लड़का समझने पर उतारू हो जाती है। ''अकेले रहते रहते, मैं तो यह भी भूल चली थी कि मैं लड़की हूं या लड़का।... वैसे सच कहूं तो उम्र के लिहाज से अब मुझे अपने आप को लड़की कहना बंद कर देना चाहिए और शादी ना होने का यही तो एक फायदा है, औरत लड़की ही बनी रहती है, बशर्ते वह हर इतवार अपने पकते बालों के प्रति सावधानी बरतें।''[१९] अब उसके समक्ष अपने अकेलेपन में स्वयं किसी भी साधनों द्वारा तसल्ली पा लेने का ही पर्याय है।

'चिर कुमारी कहानी की नायिका दिशा अपने व्यक्तित्व को अपने अनुसार दिशा देने पर उतारू है। परिवार की सुखद कल्पना में उसने अपने माता-पिता के संबंधों में जिस मौन का अनुभव किया था, इसी मौन दिशा को विवाह के प्रति विरक्त बना दिया था। कई किस्म की ज्यादतियों और कमियों का मुकाबला उसने अपनी शिक्षा और प्रखर चेतना से किया था। वह कहती है- ''आजादी के पचास साल बाद भी लड़कियों के शौच जाने का कोई इंतजाम नहीं है। झुण्ड में निकली है, कोई सुनसान जगह देख कर बैठेंगी। फिर भी कोई गारंटी नहीं कि सही सलामत घर पहुंच जाएगी।... इनका उदाहरण. बलात्कार कुछ भी असंभव नहीं है।''[२०] इस प्रकार जीवन की आवश्यकता तथा जटिलता का बोध उसे हो चुका है।

आज वर्तमान में परिवार के बनते-बिगड़ते संबंधों का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को आ रहा है। 'एक अकेला दुख' कहानी की नायिका नेता ने तो अपने भाई के परिवार को स्वयं बनते-बिगड़ते देखा है। बड़ा सुख था उस परिवार में। उसी शहर में ''नीता की आंखों के नदी-नाले देखने वाला यहां कोई नहीं था। अकेली बहन का दुख भी अकेला।''[२१] उसके भाई की मृत्यु हुई और भाई के साथ साथ और असहाय नीता के लिए अपने विवाह की उमंग भी छूटती हुई महसूस हुई। समय के साथ उसने समझौता कर लिया। अकेली भाभी से वह कहती है- ''कितनी बार उन्हें समझाया मैंने, कि मकान किराए पर चढ़ा दें और मेरे पास आकर रहें। हम दोनों एक दूसरे का अकेलापन बांट लेंगे।''[२२] नीता की चेतना ने यह स्वीकार किया

था कि अपने लिए- ''वर्तमान एक चुनौती तो अतीत एक शरणस्थल है।''[२३] इसी प्रकार अपनी परिस्थिति के वास्तविक स्वरूप का वह ज्ञान प्राप्त कर लेती है। लगभग इसी खिन्नता का भोज मनहूसाबी कहानी की नायिका उषा को हुआ था। फर्क केवल यही था कि उसके माता-पिता जीवित थे, नीता के नहीं। जब उसने बी.ए.पास किया, तभी घर में उसकी शादी के प्रयत्न चलने लगे थे। किंतु उसका रंग, रूप और स्वास्थ्य तीनों गड़बड़ होने के साथ-साथ घर की आर्थिक स्थिति भी गड़बड़ थी, अतः दादी दिन-रात कलपती, इनका तो भगवान ही मालिक है।... इस मनहूस का बियाह हो जाता तो मैं चैन से आंखें मूंद लेती। फिर भी उसे अपनी मासूमियत, मौलिकता और मृदुता के आधार पर अपने आपको कड़ी मेहनत के लिए कटिबद्ध कर लेती है।

पचीस साल की स्त्री के लिए उम्र की पचीस परेशानियाँ भी सामने आती है। एक तरफ विवाह ना होने का डर तो दूसरी ओर समाज की संदेह दृष्टियों का भय स्त्री को हर हमेशा सताता रहता है। 'पचीस साल की लड़की' कहानी की नायिका अपनी उम्र पचीस वर्ष हो जाने से अपराध भावना से ग्रस्त हैं। समाज की संदेह वृत्ति को उसने महसूस किया है। यहां तक कि बॉस की पत्नी, मिसेज शर्मा भी उसे आशंका भरी नजरों से देखती है। उम्र के पचीस वर्ष की समस्याओं का ज्ञान उसे तब हुआ जब ''इन दिनों लड़कियों के बीच में औरत और औरतों के बीच लड़की गिनी जाने लगी थी।... किसी भी वर्ग से संवाद का सिलसिला बैठ नहीं पा रहा था। मोहल्ले की छोटी लड़कियां मुझे अब आंटी कहने लगी थी, जबकि मैं स्वयं अभी बहुतों को आंटी कहने की मनःस्थिति में थी।''[२४] समाज की दृष्टि में होने वाले परिवर्तन को वह महसूस कर रही है।

'बीमारी' कहानी की अविवाहित नायिका को बीमारी की स्थिति में उसे अकेलेपन की ओर धकेल देती है। कहानी में कमाने वाली बाई से भाई आर्थिक लाभ हड़पने का इरादा रखता है। इस स्थिति में नायिका बुरी तरह आहत दिखती है। भाभी उसके किडनी इन्फेक्शन को दुश्चरित्रता की निशानी मानती है।

''मुझे यह भी पता था कि मेरी इस बीमारी को वह संदिग्धों समझ रही है। उसके ख्याल में कुंवारेपन में किसी भी प्रकार का इन्फेक्शन होना, चाहे किडनी ही में सही, सरासर दुश्चरित्र होने की निशानी थी।''[२५] कुंवारी होने के बावजूद भी अभी का जो आरोप उसके नारीत्व पर चोट पहुंचाता है। 'जिंदगी सात घंटे बाद की' की आत्मीय एकरस दफ्तरी जीवन के अकेलेपन से चिंतित है। आत्मीया को दफ्तर में बिताए सातघंटे मात्र फायदेमंद सिद्ध होते हैं। कहानी कि निम्नलिखित पंक्तियों इस बात की गवाही देता है- ''पर यह उसकी प्रॉब्लम नहीं है इसलिए उसे इसका पछतावा नहीं। जब वह यूनिवर्सिटी से एम.ए. करके निकली थी, बारह साल रेडियो

ट्रेनिंग वगैरह में बिता दिए तो सहेलियों ने को खोलना शुरू किया, 'अमी, तू शादी क्यों नहीं कर लेती? आत्मीया बेफिक्री से मुस्कुरा देती, 'जल्दी क्या है, जब तक नहीं की तभी तक है।''[२६]

इस प्रकार अधेड़ उम्र में भी और विवाहिता बने रहने वाली वाले नारी पात्रों ममता जी की अभिव्यक्ति को विद्रोह की दिशा में ले जाते हैं। इन अविवाहितों की संवेदनाएं अभिव्यक्ति के रूप में शब्दों का आधार लेकर विद्रोह करना चाहती है। इस प्रकार ममता जी की कहानियों की नायिका विद्रोह करती नजर आती है।

प्रेम विवाह की अस्थिरता

विवाह के बाद पत्नी के रूप में जीवन आरंभ करती है तब अपनी बदलती हुई भूमिका को के साथ-साथ परिस्थितियों में भी वह परिवर्तन अनुभव करने लगती है। वह परिवर्तन सकारात्मक है या नकारात्मक, यह चिंतन का विषय है। किंतु जहां तक वर्तमान जीवन की जटिलता में प्रेम और विवाह जैसी दो परस्पर संकल्पनाओं के समन्वय का प्रश्न उपस्थित होता हैय वहां पर प्रेम विवाह के निषेधात्मक पहलू ही सामने आ रहे हैं। जैनेंद्र जी के अनुसार-"प्रेमी प्रेमिका में यदि विवाह हो जाता है तो प्रेम कायम नहीं रहता। उसका स्वरूप बदल जाता है। वे लिखते हैं- ''विवाह कितना ही प्रेम विवाह हो पत्नी यथार्थ पर आकर निरी स्त्री हो जाती है। इसी तरह पुरुष पति होने पर देवता पर से नीचे आता है और मनुष्य बनता है।''[२७] मानसिक स्थिरता की दृष्टि से अगर देखें तो विवाह के बाद पति और विवाह से पूर्व प्रेमी से संबंध होने के कारण संघर्ष का धरातल उभरकर सामने आता है।

ममता जी के अधिकांश कहानियाँ प्रेम विवाह की समस्याओं को रेखांकित करती है। बदलती हुई परिस्थितियों में नारी की विभिन्न मनोःस्थितियों का यथार्थ चित्रण ममता जी ने प्रस्तुत किया है। 'जितना मैं तुम्हारा हूं' कहानी कि श्वेता इसी प्रेममय स्थिरता के अभाव की शिकार है। श्वेता आज तक यह तय नहीं कर पाई कि रघु कितने प्रतिशत उसका है और कितने प्रतिशत घर का। ऐसी सुविधाएं शादी के पहले नहीं उठती थी। लेकिन आज ''श्वेता की चेतना की एक सतह लगातार कल मचाई थी। यह कमरा, यह एकांत, यह नजदीकी, यह तन्मयता, यह प्रियता, सब उसे एक रात की मिल्कियत दिखाई दे रही थी। उसकी असली दुनिया से यह दुनिया बिल्कुल कटी हुई थी, जब कि दोनों के बीच सिर्फ एक रेल भर दूरी थी।''[२८] उसे लग रहा था, कुछ ही घंटों बाद वह उसी जगह पटक दी जाएगी, जहां त्यौरी और तेवर की भाषा इस्तेमाल होती है।

प्यार करने वाला जब प्रेमी जब विवाह के बाद शक्की पति बन जाता है तो परिवार

विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लगभग इसी विषाद ग्रस्त स्थिति का अनुभव 'एक जीनियस की प्रेम कथा' की नायिका कविता को भी हुआ है। ''दूरी तुम दूर नहीं, मेरी पुकार ही अक्षम है... कोई विस्तार दृष्टि मुझ में ही कम है।''[२६] कह कर अपने विचारों की उड़ानों में कविता को समर्पित रहने वाला प्रेमी संदीप प्रणाली से लेकर परिणय तक अपने प्रेम संबंधों को इतनी ऊष्मा प्रदान करता रहा कि विवाह के बाद अचानक वह अपने को फुर्सत में पानी लगा। प्रथम मिलन के वक्त वह जितना तीव्र और तन्मय था उतना आज जब उसे अपनी पत्नी अपने पास है तब नहीं होता। पहले तो वह कविता का स्पर्श मात्र करने के लिए उसे घंटों संघर्ष करना पड़ता था, लेकिन आज समूची कविता उसे उपलब्ध हो गई, हर क्षण, हर दिन। अब संघर्ष नाम के खलनायक के हटते ही संदीप कुछ हतप्रभ सा हो गया। ''बाध ाओं को पार करते हुए मिलने में जो तरंग थी, यकायक गायब होने लगी। संदीप को लगा जैसे उसके एक निजी पूंजी चोरी हो गई है।''[३०] जबकि ''कविता की सारी चेतना सुख के संघर्ष में लगी रहती। ऊपर से वह चुप और गंभीर रहती, लेकिन अंदर से हर वक्त व्याकुल और विचलित।''[३१] संदीप अपनी प्रतिभा को अन्य स्त्रियों को आकर्षित करने के लिए हथियार के रूप में इस्तेमाल करने में प्रवीण था। उसके घर के बाहर निकलते ही कविता की चेतना जागृत होती- ''सावधान, होशियार, तुम्हारा पति कार पर नहीं, शिकार पर गया है, उठो लपको, पीछा करो। शहर सुखी विधवाओं और दुखी सधावाओं से भरा पड़ा है, उसे बचाओ।''[३२] इस तरह अपने पति के दुतरफा रहस्य को जल्द ही पहचान पाती और किसी नई योजना के गर्भ को महसूस करती।

'उपलब्धि' कहानी की नायिका को भी अपने प्रेमी की रहस्यमय व्यक्तित्व का अनुभव हुआ है। विवाह के पहले हर क्षण अपने में समर्पित रहने वाले चेतन को अब प्राची दूर होता हुआ महसूस करती है। चेतन की व्यवसायिक व्यवस्था उसे प्राची से दूर ले जाती है। प्राची का मन होता, ''नीचे की इस परेशान दुनिया का वह थोड़ी देर के लिए, ऊपर की सरल दुनिया से विनिमय कर ले।''[३३] चेतन, प्राची से संवाद की स्थिति में आता है तो वह पाता प्राची प्राची नहीं बल्कि शिकायतों, फरमाइशों और तुनकमिजाजीयों की एक पटरी बन चुकी है। प्राची को विवाह पूर्व और विवाह पश्चात के समर्पण में आने वाले परिवर्तन का ज्ञान होने में देर नहीं लगी। उसे लगता है- ''जीवन में अब बस बालकांड ही बालकांड रह गया है। वक्त की मार ने दोनों का धैर्य खत्म कर डाला था। प्राची की थकान, जल्दबाजी और चिड़चिड़ाहट पहचान चेतन वापस अपनी जेल में पहुंच जाता।''[३४] चेतन और प्राची दोनों दोहरे स्तरों पर अकेले होते जा रहे थे। यहां तक कि चेतन आज अपनी शादी की सालगिरह भी भूल गया था। इस बात को याद करके प्राची शर्मिंदगी से रो पड़ती है।

'पीली लड़की' कहानी की नायिका सोना का भी प्रेम विवाह हुआ है। पुरुष की मानसिकता का बनावटी ही रंग उसे भी दृष्टिगत हुआ है। यही वजह थी कि विवाह के पश्चात सोना दिन-ब-दिन बेहद अंतर्मुखी हो चली थी। प्रेम में जान कुर्बान कर देने वाला प्रोफेसर प्रेमी, विवाह के बाद सामाजिक संपर्क को बढ़ाने के चक्कर में अपनी पत्नी को एकाकी बना देता है। वह उदास हो जाती- ''पहले तो ऐसा नहीं था। उन दिनों में अगर सात बजे मिलने को कहती तो यह छह बजे ही बस स्टॉप पर आ जाता। कभी मैं कहती, हम लोग एक दूसरे से बोर हो गए तो ! तो कहता, कोई बात नहीं, बोर होंगे भी तो साथ साथ।''[३५] किंतु सोना को आज शब्द और सत्य के वास्तविक स्वरूप की जानकारी हो चुकी थी। इस प्रकार ममता जी की कहानियों में अधिकांश नायिकाएँ प्रेम और विवाह की आंतरिक की पीड़ाओं को महसूस कर चुकी है। वर्तमान के जटिल संदर्भों में प्रेम की स्थिरता-अस्थिरता का बोध उन्हें हो चुका है।

नारी जीवन की वैवाहिक चेतना के अंतर्गत हमने सामान्यतः उन समस्याओं को रेखांकित किया है जो जन्म से लेकर विवाह होने तक के उसके अस्तित्व के संदर्भ में उठने वाले अहम सवालों से संबंधित है। प्रेम विवाह की स्थिरता-अस्थिरता का संबंध भले ही पारिवारिक समस्याओं से हो, लेकिन उससे उत्पन्न संत्रास विवाह के पूर्व प्रेम संबंधों की सार्थकता को निर्देशित करता है। अन्य समस्याएँ भी लगभग विवाह के पहले की है। जहां पर आरंभिक जीवन के विभिन्न संबंधों के परिप्रेक्ष में नारी जीवन की संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. उपलब्धि-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१७६
२. उपलब्धि-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१७६
३. पीली लड़की-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१६९
४. वह तीन और वह-और ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-३३
५. बीमारी- ममता कालिया की कहानियाँ खंड १ ममता कालिया पृ. संख्या ४७
६. उपलब्धि-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१७६
७. उपलब्धि-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१७६
८. पीली लड़की-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१६९
९. वह तीन और वह-और ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-३३
१०. बीमारी- ममता कालिया की कहानियाँ खंड १ ममता कालिया पृ. संख्या ४७
११. जिंदगी सात घंटे बाद की-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-६४.
१२. उपलब्धि-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१७६

१३. उपलब्धि-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१७६
१४. पीली लड़की-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१६९
१५. वह तीन और वह-और ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-३३
१६. बीमारी- ममता कालिया की कहानियाँ खंड १ ममता कालिया पृ. संख्या ४७
१७. जिंदगी सात घंटे बाद की-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-६४.
१८. खाली होता हुआ घर-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-२२१
१९. फर्क नहीं-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१२०
२०. फर्क नहीं-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१२५
२१. आपकी छोटी लड़की-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-२५३
२२. आपकी छोटी लड़की-ममता कालिया की कहानियाँ खंड १, ममता कालिया, पृ. संख्या-२४९
२३. मुन्नी-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-२, ममता कालिया, पृ. संख्या-४३९
२४. अपत्नी-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-४९
२५. पिछले दिनों का अंधेरा-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-६७
२६. वे-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-८६
२७. साथ-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-७०
२८. सीट नंबर छह-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१११
२९. चिर कुमारी-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-२, ममता कालिया, पृ. संख्या-२२६
३०. एक अकेला दुख-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-२, ममता कालिया, पृ. संख्या-२०६
३१. एक अकेला दुख-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-२, ममता कालिया, पृ. संख्या-२०९
३२. एक अकेला दुख-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-२, ममता कालिया, पृ. संख्या-२०४
३३. छुटकारा-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-५४
३४. बेतरतीब-ममता कालिया की कहानियाँ खंड-,१ ममता कालिया, पृ. संख्या-७४
३५. दो जरूरी चेहरे -ममता कालिया की कहानियाँ खंड-१, ममता कालिया, पृ. संख्या-१०२

-सहायक अध्यापक
सी.एन. आर्ट्स एन्ड बी. डी. कॉमर्स कॉलेज, कड़ी

निर्मला पुतुल के काव्य में प्रकृति चेतना

–सुष्मिता वर्मा

इस आलेख में निर्मला पुतुल की कविताओं में प्रकृति चेतना को रेखांकित किया गया है। जिसमें जनजातीय समाज का प्रतिरोध, संघर्ष और गहरी तार्किकता की अनुगूंज समाहित है।

शोध-बीज- प्रकृति, सामाजिकता, पर्यावरण, परम्परा, अस्तित्व, अस्मिता, स्वतन्त्रता, पलायन, शोषण, संघर्ष और औद्योगिकीकरण आदि।

'माटी ने आवाज दी है साथियों, आज फिर एक रण लड़ा जाए
प्रकृति के संरक्षण हेतु, एक कदम आगे अब और बढ़ा जाए'

मयंक विश्नोई की यह पंक्तियाँ जनजातीय समाज के प्रकृति संरक्षण के प्रति भक्ति-भावना को व्यक्त करती हैं। अतीत से लेकर वर्तमान तक भारत की जनजातियों ने सुदूर आर्य-अनार्य संग्राम श्रंखला से गुजरते हुए किसी तरह स्वयं के अस्तित्व व अस्मिता की रक्षा करते हुए जंगल और पर्वतों को बचाए रखा, उन्हें ही आज विकास के नाम पर उजाड़ा जा रहा है। जनजातीय समाज सम्पूर्ण विश्व के लिए मार्गदर्शक का काम कर रहा है, वह चाहे पर्यावरण से सम्बन्धित हो या उनके स्वयं के जीवन मूल्य से पर्यावरण को सुरक्षित और सन्तुलित रखने वाली इन आदिजातियों को औद्योगिक विकास के जहरीले दंशों को झेलना पड़ रहा है। लाभ कमाने के लिए गाँव के गाँव उजाड़े जा रहे हैं और भोली-भाली मासूम जनता इस चक्रव्यूह में फंसती जा रही है।

विडम्बना यह है कि आजाद भारत में भी प्रशासन और समाज द्वारा इन जनजातियों के साथ गुलामी से भी बदतर व्यवहार किया जा रहा है। पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर भारत सरकार के 'वन एवं पर्यावरण मंत्रालय' ने ३ मई, २००२ को निर्देश दिया कि वन पर जो साढ़े बारह लाख हेक्टेयर भूमि अतिक्रमित है उसे समय सीमा के अन्दर ३० सितम्बर, २००२ तक खाली होना है। यह आदेश देश के विभिन्न राज्यों के वन क्षेत्रों में वर्षों से रह रहे ग्रामवासियों के लिए मौत का एलान बन गया। कई राज्यों में घर तोड़ना, खेती नष्ट करना, सीधे गोलीबारी द्वारा निर्मम हत्याएँ करना, यह आजादी पर प्रश्न चिह्न है।

सभ्य समाज के लोग जनजातियों के लिए जंगली, असभ्य जैसे विशेषणों का उपयोग करते हैं इन्हें समाज में रहते हुए भी प्रताड़ित करते हैं। जिनकी संस्कृति में प्रकृति प्रेम, वन्य जीवों

के स्तर पर सहअस्तित्व, निखर सकने वाला जड़ी-बूटियों का परम्परागत व अनुभूत ज्ञान, भोलापन तथा सामूहिकता आदि विशेषताएँ मौजूद हैं, उन्हें ही आज अपनी जमीनों से खदेड़ा जा रहा है, उनकी महिलाओं को बेइज्जत किया जा रहा है। हमारे देश को भले ही आजादी मिले दशक बीत चुके हैं, किन्तु आदिजनों को आजादी नहीं मिली है। वे सुरक्षा और सम्मान से वंचित अपमानजनक जीवन जीने को अभिशप्त हैं।

वंदना टेटे ने अपनी पुस्तक 'आदिवासी साहित्य' परम्परा और प्रयोजन में जनजातीय साहित्य से सम्बन्धित अपने चिंतन व्यवस्थित रूप से रखा है। वे लिखती हैं कि ''आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मक साहित्य है। यह इंसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है, जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुन्दर है।. ....वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है।''[१] अतः जनजातीय समुदाय ने किसी देश पर राज करने के लिए नहीं, अपितु अपना अस्तित्व बचाने के लिए बार-बार विद्रोह किया है, और आज भी कर रहें हैं। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है।

जनजातीय समुदाय के विस्थापन और अस्तित्व की समस्या पर अनेक कविताएँ लिखी गई हैं। इस सन्दर्भ में निर्मला पुतुल लिखती हैं कि-

''धरती के इस छोर से उस छोर तक
मुट्ठी भर चावल लिए
दौड़ती-हाँफती-भागती
तलाश रही हूँ निरन्तर
अपनी जमीन अपना घर
अपने होने का अर्थ''[२]

प्रकृति के साथ आदिवासी समाज का जो रिश्ता है वह बहुत गहरा और प्राचीन है। जनजातीय समाज पेड़-पौधों को भगवान का स्थान देते हैं। परन्तु देश के विकास के नाम पर जो जंगलों को काटा जा रहा है उससे पर्यावरण को काफी क्षति पहुँच रही है। पर्यावरण के सन्दर्भ में डॉ० रामदयाल मुण्डा का कथन है कि ''पर्यावरणगत जितनी क्षति स्वतन्त्रता के पहले तक दो सौ वर्षों में हुई थी, उससे अधिक स्वतन्त्रता के बाद के ५० वर्षों में हुई है। खान-खदानों की अनियन्त्रित खुदाई एवं भारी कल-कारखानों की सघन स्थापना से ६० प्रतिशत क्षेत्र का वन आच्छादन मात्र १३ प्रतिशत पर उतर आया है।''[३] निर्मला पुतुल अपनी कविता 'बूढ़ी पृथ्वी का दुःख' में लिखती है कि-

''क्या तुमने कभी सुना है
सपने में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से

पेड़ों की चीत्कार?
किसी पेड़ की हिलती टहनियों में
दिखाई पड़े हैं तुम्हें
बचाव के लिए पुकारते हजारों-हजार हाथ?
क्या होती है तुम्हारे भीतर घमस
कटकर गिरता है जब कोई पेड़ धरती पर?''[४]

जनजातियों द्वारा किए गए सशस्त्र विद्रोहों में संथाल विद्रोह, खेरवाड विद्रोह, गोदावरी एजेन्सी के 'रिम्पा' क्षेत्र का विद्रोह तथा बिरसा मुण्डा के मार्गदर्शन में 'उलगुलान' विद्रोह आदि प्रमुख थे।

जनजातीय समुदाय अपनी अस्मिता के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर संघर्षरत है-

१. जल, जंगल और जमीन के लिए

२. भाषा एवं संस्कृति की अस्मिता के लिए

३. विस्थापन और पुनर्वास की यथोचित व्यवस्था के लिए

जनजातीय जीवन संघर्ष व चेतना का विस्तार है जो समाज बहुसंख्य होते हुए भी निरन्तर पीछे हैं।''जब देश आजाद हुआ और हमारा संविधान बनने की प्रक्रिया में था, जयपाल सिंह मुण्डा की अगुवाई में संविधान सभा के आदिवासी प्रतिनिधियों ने आदिवासी क्षेत्रों की स्वायत्तता की माँग रखी। आदिवासियों के हितों पर जयपाल सिंह मुण्डा ने कहा, 'हम आदिवासी इस देश के मूल निवासी हैं। हमें अपनी स्वायत्तता चाहिए। हम नए भारत में आदिवासियों के लिए समतामूलक व्यवहार चाहते हैं, संविधान सभा के सवर्ण नेताओं ने स्वायत्तता के इस सवाल पर देश के आदिवासियों से बड़े-बड़े वादे तो किए, लेकिन उनमें से किसी को भी अमल में नहीं लाया गया। जमीन आदिवासी जीवन का मूलाधार है, इसी को रेखांकित करते हुए जयपाल सिंह ने कहा, जमीन आदिवासी जीवन का केन्द्र है। यह देश के ३० लाख आदिवासियों के भविष्य का प्राथमिक सवाल है। इसकी सुरक्षा की गारंटी देश के संविधान को करना चाहिए। आदिवासी जमीन का सवाल हर बहस से परे है। इसे हर हाल में मौलिक अधिकार में शामिल किया जाना चाहिए।''[५] आदिवासी जिन वनों को अपना ईश्वर, पूर्वज और मित्र मानकर पूजा करते आए हैं वहीं वन कम्पनियों के लिए कच्चा माल पाने का स्रोत बन गए हैं।

आज देश का शायद सबसे उपेक्षित समुदाय आदिवासी है। देश का जनजातीय समुदाय अस्मिता और अस्तित्व की दोहरी चुनौतियों का सामना कर रहा है। नयी आर्थिक दृष्टिकोण के बाद प्रारम्भ हुई विकास की इस अंधी दौड़ का सबसे ज्यादा नुकसान आदिवासियों को

उठाना पड़ रहा है। क्योंकि आदिवासियों की आजीविका शुरू से ही श्रम पर आधारित रही है वह खेत में हो चाहे जंगल में हो।

अतः प्रकृति हर पल एक नया जीवन वन सम्पदा का निर्माण करती है। इसका प्रयोग यदि उचित मात्रा में होगा तो मनुष्य का कार्य भी चलता रहेगा और प्रकृति को हानि भी नहीं होगी। संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल अपनी कविता के माध्यम से प्रकृति संरक्षण की बात करते हुए कहती हैं कि-

"जंगल की ताजी हवा
नदियों की निर्मलता
पहाड़ों का मौन
गीतों की धुन
मिट्टी का सोंधापन
फसलों की लहलहाहट
आओ मिलकर बचाएँ
कि इस दौर में भी बचाने को
बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास।"[६]

जिस समाज का समस्त जीवन प्रकृति पर निर्भर हो, वह भला इसके बिना कैसे रह सकता है? औद्योगिकीकरण के इस दौर में प्रकृति का अंधाधुंध दोहन हो रहा है, वृक्षों को काटा जा रहा है। इस सन्दर्भ में कवि व आलोचक लक्ष्मण गायकवाड़ कहते हैं कि "जंगलों की बिना आदिवासियों का कोई अस्तित्व नहीं है। जब अंग्रेज भारत आए और विकास के नाम पर जंगल के खजाने को काटना शुरू किया तो आदिवासियों ने बगावत की, जब यह संघर्ष हुआ तो कुछ आदिवासियों ने माँग की-हमें काटो लेकिन जंगल मत काटो सैकड़ों-हजारों वर्षों से जिन जंगलों को हमने संभाला है, जिसके सहारे हम जी रहे हैं, उसे बर्बाद मत करो।"[७] आज समस्त प्राणी जगत के जीवन को संकट में डाल दिया गया है। मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति को खोखला करने में लगा हुआ है, ग्लोबल वार्मिंग के कारण प्रत्येक वर्ष प्राकृतिक आपदाएँ आती रहती हैं, जिससे जान माल की हानि होती है। धरती बंजर हो रही है, नदियाँ सूख रहीं हैं तथा बेमौसम बरसात होने से सृष्टि अस्त-व्यस्त हो रही है। आदिवासी समाज बार-बार प्रकृति को बचाने का आह्वान करता रहा है लेकिन उसकी आवाज कोई नहीं सुन रहा। जनजातीय समुदाय कई प्रकार की विडम्बनाओं से जूझ रहा है जैसे-विस्थापन, बेरोजगारी, शोषण एवं अशिक्षा आदि इसलिए आज इन सभी परेशानियों के समाधान की आवश्यकता है जिसके लिए हमें जनजातीय समुदाय के साथ संवाद स्थापित करना होगा जो वर्तमान समय में अपनी अस्मिता व अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

कार्ल मार्क्स का कथन है कि-''किसी भी समाज में परिवर्तन के लक्षण भीतर से हो, उसके पहले ही उस पर बाहर से परिवर्तन लाद दिया जाये तो वह समाज एक किस्म के सांस्कृतिक अवसाद में (Cultural Melancholy) जीने को बाध्य हो जाता है।''[८]

वर्तमान समय में आदिवासियों के अधिकारों को सुनिश्चित करने और उन्हें बढ़ावा देने के लिए प्रत्येक वर्ष ९ अगस्त को 'विश्व आदिवासी दिवस' मनाया जाता है। देश की आजादी के सात दशक बाद 'माननीय द्रोपदी मुर्मू जी' के रूप में पहली बार किसी आदिवासी महिला को देश के सर्वोच्च पद पर बैठाया गया है, जो जनजातीय समाज के लिए बड़े गर्व की बात है।

निष्कर्ष

आदिवासी साहित्य विमर्श के ऐतिहासिक एवं भौतिक कारण हैं। देश की आजादी के पहले आदिवासियों की मूल समस्याएँ-वनोपज पर प्रतिबंध, तरह-तरह के लगान, महाजनी शोषण, पुलिस प्रशासन की ज्यादतियाँ आदि हैं जबकि आजादी के पश्चात् सरकार के द्वारा अपनाए गए विकास मॉडल ने आदिवासियों से उनके जीविकोपार्जन के साधन छीनकर बेदखल किया जा रहा है। प्रकृति के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जहाँ जनजातीय समाज की सांस्कृतिक पहचान नष्ट हो रही है, वहीं दूसरी ओर उनके अस्तित्व की रक्षा का सवाल भी खड़ा हो रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ० ४३
२. पुतुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० ३०
३. मुंडा, रामदयाल, आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल, पृ० ३०
४. पुतुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृ० ३१
५. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ० २५
६. पुतुल,निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० ७७
७. आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार, सं९ रमणिका गुप्ता, पृ० ९९
८. मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, पृ० १४३

-शोध छात्रा
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

⊙

गोपाल चतुर्वेदी के निबन्धों में राजनीतिक विसंगतियों पर व्यंग्यधर्मिता

–प्रो० राजेश कुमार गर्ग एवं राहुल जायसवाल

आजादी के पूर्व भारत में सभी प्रकार के बंधन, अत्याचार, शोषण तथा देश के सभी संसाधनों पर ब्रिटिश शासन का ही अधिकार था। देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोकतंत्र जिसमें जनता का,जनता द्वारा,जनता के लिए शासन होना सुनिश्चित किया गया था। लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, न्याय, धर्म की उपासना की स्वतंत्रता, अवसर की समानता आदि मूलभूत अधिकार प्राप्त होते हैं लेकिन देश आजादी के कई दशक बाद भी आज वही नेता, चमचागिरी, परिवारवाद, बेईमानी, रिश्वतखोरी, गरीबी, भुखमरी कों बरकार रखने में अपनी शान समझता है। गोपाल चतुर्वेदी जी ने इन्हीं राजनीतिक विसंगतियों पर अनेक व्यंग्य लेख लिखे हैं। प्रसिद्ध व्यंग्य आलोचक सुभाष चंदर जी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी व्यंग्य का इतिहास' में लिखते हैं कि- ''गोपाल चतुर्वेदी व्यंग्य जगत् के महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। परसाई युग की भाँति इस युग में भी उन्होंने अपनी सरोकारपरक व्यंग्यधर्मिता से पाठकों को चमत्कृत किया है। वह देश के जाने-माने व्यंग्य स्तम्भकार हैं। सबसे बड़ी खूबी यह है कि नियमित और प्रचुर मात्रा में लेखन के बावजूद उन्होंने स्तर के साथ समझौता नहीं किया है। नवभारत टाइम्स, हिन्दुस्तान, राष्ट्रीय सहारा आदि समाचार-पत्रों में वह नियमित व्यंग्य-स्तम्भ लेखन कर रहे हैं।यहाँ वह भाषा के प्रचलित प्रतिमानों के साथ खिलवाड़ करके विसंगति के मर्म पर प्रहार करने की सार्थक कोशिश करते हैं। उनका व्यंग्यकार मीठी चिकोटी काटने में नहीं,परसाई की भाँति तीखा प्रहार करने में विश्वास रखता है। यही कारण है कि ऊपर से सामान्य कोटि की हास्य रचना का भ्रम देने वाली रचनाएँ अन्त तक आते- आते करुण व्यंग्य में परिवर्तित हो जाती हैं। श्रेष्ठ व्यंग्य की पहचान भी यही है।''[1]

लोकतांत्रिक देश में जनता ही राजा है और राजा ही मंत्री होता है । राजनीति में व्यक्तिगत सुखों का त्याग के द्वारा जनता की सेवा की जाती है।आज राजनेता किसी राजा से कम नहीं है बड़ी गाड़ियों से उनके काफिले निकलते हैं शानशौकत राजा, महाराजा तक इनके आगे नहीं टिकेंगे। यह सब जनता के पैसे का बहुत अधिक मात्रा में दुरुपयोग है। चुनाव में लाखों-करोड़ों रुपए हवा में उड़ाए जा रहें हैं। देश के बिगड़ते हालात के जिम्मेदार असल में

ये नेता ही हैं। जनतंत्र में सरकार जनता को रोटी, कपड़ा, मकान और रोजगार देने की बात करता है लेकिन पिछले पचहत्तर वर्ष में आज भी यही स्थिति बरकार है। जनता से ये सभी वादे, अंत में झूठे वादे बनकररह जाते हैं और नेता गरीबों केपैसे से उच्च पद पर बैठे भ्रष्ट अधिकारियों को नोटों की मिठाइयां खिलाते हैं। गोपाल जी इस भ्रष्टतंत्र पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि- ''यही आलम भारतीय जनता का है। वह दाने-दाने, भूख, अभाव, भ्रष्टाचार, कुपोषण, सामाजिक कुरीतियों, सरकार की बेरुखी वगैरह से तंग है। उसे कोई दाल-रोटी के सपने दिखाएं, बेरोजगारी हटाने का वादा करे तो उसका ऐसों के लुभावने चस्कों में आना लाजमी है। इतना ही नहीं, चस्कों के चाणक्य उनके सिर के ऊपर छत, तन पर कपड़े, सुशासन वगैरह-वगैरह का वादा करते हैं, ठीक उसी शैली में जैसे कैंसर के रोगी कोई जादू टोने से स्वस्थ होने का।''[२] लोकतंत्र में राजनेता अपने को राजा मानते हुए अपने मंत्रिमंडल में इन्हीं के भाई, रिश्तेदार आदि शामिल रहते हैं। एक ही परिवार के अलग-अलग सदस्य बड़े-बड़े राजनेता या पदाधिकारी होते हैं। जिसके पास धन है उसी के पास शक्ति है और गोपाल चतुर्वेदी जी अपने व्यंग्य में इस भ्रष्टतंत्र के नेता और उसके कारनामों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख देते हैं।

आज चुनाव में अहम् भूमिका 'जाति' की है। सभी पार्टियां अपने-अपने जाति के उम्मीदवार को टिकट देती हैं। अपने वोट बैंक को ऐसे ही तैयार करके अनेक विसंगतियों को जन्म देते हैं। ऐसे देश में जातियाँ कभी भी खत्म ही नहीं होंगी और देश इसी दुष्चक्र में फंसा रहेगा। नेता पढ़ा-लिखा है इससे कोई भी मतलब नहींअपने जाति का है या नहीं यही महत्वपूर्ण है। गोपाल चतुर्वेदी जी के इस जाततंत्र के विसंगति को बढ़ाने नेताओं पर अपने व्यंग्य लेखन के द्वारा प्रहार करते हैं। वे लिखते हैं कि- ''हमारे आज के नेता जानते हैं कि जाति कितनी जरूरी है। जब जातियाँ जुटती हैं तो वोट मिलता है। जब हर जाति का नेता पहले अपना और फिर जाति का ध्यान रखता है तो जातितंत्र बनता है। इसी को कुछ भूले-भटके जनतंत्र भी कहते हैं। जनता क्या है? इन्हीं जातियों का तो समूह है। भारत में सिर्फ इंसान का अस्तित्त्व नामुमकिन है, उसके साथ कोई न कोई जाति की दुम जरूर लगी रहेगी। आजादी के पचास साल बाद सियासत की घड़ी जातियों और संप्रदायों में इंसान को बाँटकर रूक गई है। गरीब को रोटी की जगह कोई मंदिर देता है, कोई मस्जिद । सब उसके नाम पर अपनी रोटी सेंकते हैं।''[३] इस प्रकार जैसे-जैसे चुनाव आते हैं नेता जनता को बड़े-बड़े चुनावी वादे करके उन्हें प्रलोभन देती है और चुनावजीतने के पश्चात् पांच वर्ष तक ईद का चांद हो जाएंगे। चुनाव में प्रत्याशियों और कार्यकर्ताओं के चयन पर गोपाल जी ने बाहुबली और अपराधियों का चयन आज कल की पार्टियां कैसे करती है इस पर व्यंग्य करते हैं- ''दल के दफ्तर के सामने भीड़

लगी है। सब कार्यकर्ता बनना चाहते हैं। एक पदाधिकारी प्राथमिक चयन की औपचारिताएँ निभा रहे हैं-

'तो आप कार्यकर्ता बनेंगे!'

'जी हाँ!'

'इस काम का कोई अनुभव है?'

'पिछले चुनाव के दौरान तो स्कूल में था, पर अब तक तीन बसें जलायी हैं और दस-पंद्रह के काँच तोड़े हैं। स्कूल के दिनों में 'मिस' की मेज पर छिपकली और बैग में मेंढक डाला था। प्रिंसिपल ने स्कूल से ही निकाल दिया था।'

'आपका सैद्धांतिक दृष्टिकोण क्या है?'

'मैं आपका सवाल नहीं समझा।'

'मेरा मतलब है कि आपकी कोई 'पॉलिटिकल आईडियोलॉजी' है?'

'मैं किसी दूसरे पर यकीन नहीं करता। मुझे सिर्फ अपने बाहुबल पर भरोसा है।'

प्रत्याशी चुन लिया गया है। दूसरे की गुहार लगती है।

'आप क्यों हमारे दल के लिए काम करना चाहते हैं?'

'घर में बेकार रहने से तो बेहतर है कि कुछ किया जाए।

फिर राजनीति में मेरी रुचि भी है।'

'वह कैसे?'

'मैंने मार्क्स, गांधी और लोहिया को पढ़ा है। मेरे विचार से पॉलिटिक्स जनता की सेवा का सशक्त माध्यम है।'

'बड़ा नेक इरादा है आपका। कार्यालय के बाहर पान की दुकान खोलकर आप फिलहाल हम लोगों की सेवा करें। इस तजुर्बे से आप बिना कार्यकर्ता बने नेता बन जाएँगे।''[४]

आजादी के बाद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में बड़ी-बड़ी पार्टियों में चंदा के खेल से सभी वाकिफ होंगे कि जितना ज्यादा चंदा दिया जाए उतनी ही बड़ी ठेकेदारी, रिश्वत, तबादला, पद, मंत्रालय तक भी इसी दाम तंत्र के आधार पर प्राप्त होते हैं। सभी की कीमत होती है, कीमत चुकाओ और जय-जयकार कराओ। भ्रष्टाचार में इसकी भूमिका सभी विभागों में है। दामतंत्र का उल्लेख गोपाल चतुर्वेदी जी ने किया है और भ्रष्टतंत्र के इस जाल को अपने व्यंग्य 'कुरसीपुर का कबीर' व्यंग्य में बड़े बेबाकी से इसका पर्दाफाश किया है। वे लिखते हैं कि- ''आजादी के बाद देश की बदली परिस्थितियों में नेता 'दाम वसूलकर' काम करता है। पूरे सामाजिक तंत्र पर यह दाम-संस्कृति हावी है। बातें रामराज की करते हैं और सब काम दाम-राज के आधार पर करते हैं। सरकार के प्रत्येक निर्णय की कीमत है। कीमत चुकाओ

और आदेश ले जाओ। पहले लोग ऐसों पर जूते फेंकते थे, अब प्रायोजित भीड़ उनकी जय-जयकार करती है। हमारे आधुनिक जनसेवकों ने 'इस हाथ दे, उस हाथ ले' का बाजारू उसूल अपनाया है। जनसेवक प्रश्नकाल में 'सवाल पूछता' है। इसकी कीमत ग्राहक पर निर्भर है। अगर प्रश्न करवाने वाला मालदार है तो उसका रेट भी शानदार है। यदि वह सम्पन्न नहीं है, अपने क्षेत्र का है, तो दर भी सस्ती है। यही सिद्धान्त जनप्रतिनिधि की सिफारिशी चिठ्ठी पर भी लागू है। यदि किसी बंदे को नौकरी, स्थानान्तरण, वगैरह-वगैरह के लिए मंजीत्री की दिव्य उपस्थिति में ले जाना है तो उसका रेट ग्राहक की जेब की सामर्थ्य पर निर्भर है।''[५]

नेता का हाथ सर पर होते ही उनके चमचे आये दिन समाज में दादागिरी, वसूली, अपहरण, कब्जा और भ्रष्टाचार कों अंजाम देते है। बड़े-बड़े ठेके इन्हीं चमचो कों दी जाती है, जिससे अधिक से अधिक धन उगाही करें और फिर आगामी चुनाव में पुनः भारी मतों से जीत हासिल हो। गोपाल चतुर्वेदी जी ने इस गुंडागिरी पर व्यंग्य करते हुए 'कुरसीपुर का कबीर' में लिखते हैं- ''वह आज किसी भी युवा नेता ऐसे लगते हैं। पुलिसिया हो या पानवाला, किसी को भी हड़काना उन्हें सामान्य से विशिष्ट बनाता है। वह सिर्फ उसूलों की दलदल से दूर हैं, पर उनके पाँव हर दलदल में धँसे हैं। उगाही, वसूली, अपहरण जैसे निजी पहल के उद्योग उनकी विशेषता के क्षेत्र हैं।''[६]

आज नेता के पास बड़े-बड़े गुंडे ही उन्हें आगे बढ़ा रहे हैं।चुनाव के समय इन्हीं से हक वसूली के रुपए से प्रचार-प्रसार होता है और डराने धमकाने के पश्चात चुनाव में जीतवाने में इन्हीं की बड़ी भूमिका है।

भारत में एक बार नेता बन जाने पर उनकी सात पीढ़ियां तर जाती हैं।गोपाल जी ने इस पर व्यंग्य किया है कि कैसे गिरगिटरूपी नेता और उनके गुंडे जो सफेदपोश में जनता कोठगते हैं। गोपाल जी 'कुरसीपुर का कबीर' व्यंग्य में लिखते हैं- ''ऐसी जनता के जनप्रतिनिधि ा का बदलाव कौन आश्चर्यजनक है? उसे तो अपनी प्यारी जनता के रंग में रँगना-ही-रँगना है। यही कारण है कि हर 'कामयाब या उभरते नेता के पालतू गुंडे-बदमाश भी होना-ही-होना। आखिर वह बेचारा दादा, माफिया एवं रंगदारों का भी तो नुमाइंदा है। वह इनसान के रूप में ऐसा गिरगिट है, जो वक्त-जरूरत के मुताबिक रंग बदलता है, पर सिर्फ गिरगिट ही रहता है।''[७]

राजनेता मीडिया के साथ गठजोड़ करके झूठे प्रचार और अनगिनत झूठ से भरी उपलब्धियों के बखान से पूरा अखबार भरा रहता है। किसी नेता के जितने काले कारनामे होंगे उसका चरित्र बिकी हुई मीडिया बखूबी साफ सुथरा प्रस्तुत करती है इसीलिए मीडियाकर्मी को

सभी सुविधाएं आसानी से उपलब्ध कराई जाती है। इस खोखले प्रचार पर गोपाल जी ने कटाक्ष करते हुए अपने व्यंग्य 'कुरसीपुर का कबीर' व्यंग्य में लिखते हैं- ''आज के ज्यादातर जन समर्पित लीडर इसी तरह के हैं। कोई सोचे। यदि अखबार उनकी इस जनसेवा का डटकर प्रचार न करें तो जनता को कैसे खबर हो कि नेता ने उसके हित में क्या नहीं किया है! इसलिए कहावत भी हैं कि जंगल में मोर नाचा किसने देखा। अखबार का दायित्व है कि जंगल में नाचते इस मोर की हर मुद्रा, भंगिमा और सतरंगी छवि वह पाठकों तक पहुँचाए। नेता अखबार-निर्भर हैं। वह इस तथ्य से वाकिफ हैं। इस कारण पत्रकार की सुख-सुविधा, भेंट-भोजन के प्रबंध में गलती से भी कोताही नहीं करते हैं।''[८] इस प्रकार झूठी खबर को सत्य के रूप में अखबार के माध्यम से जनता के सामने प्रस्तुत किया जाता है। मीडिया को चौथा आधार स्तंभ माना जाता है जिसकी पूरी नैतिक जिम्मेदारी है कि वह वही दिखाए जो सच हो, जनता के मुख्य समस्याओं को उठाए जिससे देश में सही नीति का पालन हो।आमतौर पर आजकल सभी राजनैतिक दलों को मीडिया का ही सहारा लेना पड़ रह है क्योंकि मीडिया में किसी खबर को बकायदा एक योजना के तहत दिखाया जाता है जिससे झूठ को भी बड़े सत्यता के साथ परोसा जाता है। इस चौथे खंभे के कारण देश में आज भ्रष्ट नेताओं का शासन चल रहा। गोपाल जी ने इस भ्रष्टतंत्र के पर्दे को उठते हुए उस पर व्यंग्य करते हैं- "नेता जानता है। चुनाव में पत्रकार की अहम भूमिका है। यह सच है कि नेता एक खाँटी जनसेवक है। आजादी के बाद से उसने जनता की इतनी लगन और निष्ठा से सेवा की है कि उसके परिवार को पाँच पुश्तों तक काम करने की दरकार नहीं है। इस सेवा-मुहिम के दौरान उसने क्या-क्या नहीं किया है? उसकी स्कूल-कॉलेजों की 'चेन' है। उनमें बिना डोनेशन एक 'एडमीशन' तक नहीं होता है। उसके बाबा के नाम अस्पताल है। वह कालाबाजारी के आरोप में जेल गए थे। अपने पोते की कृपा से स्वतंत्रता सेनानी घोषित हो गए। अंग्रेज नाइंसाफी और जुल्म-ज्यादती में नादिरशाह के कान काटते थे। तभी तो एक सीधे-साधे आजादी के सिपाही को काला बाजारिया घोषित कर दिया। कौन जाने, देश की स्वतंत्रता के कितने साधक ऐसे ही लचर आरोपों के आधार पर कृष्ण की जन्म-भूमि की जबरन सैर करते रहे।''[९]

इक्कीसवीं सदी को हक वसूली का सदी गोपाल जी मानते हैं। नेता, अधिकारी, कर्मचारी, डॉक्टर, शिक्षक, माफिया यह सभी हक कि वसूली कर रहे हैं। राजनीतिक शक्तियां वसूली को प्रमुखता दे रहे हैं। यह शक्तियां इन्हीं से पोषित और प्रभावित हैं जिनके द्वारा इन सभी अवैध कार्यों कों अंजाम दिया जाता है। सब का हिस्सा तय है एक-एक नेता, मंत्री, अफसर और कर्मचारियों के जेब में जाता है। गोपाल जी ने अपने व्यंग्य 'नैतिकता की लंगड़ी दौड़' में लिखते हैं- ''इक्कीसवीं सदी हक-वसूली की सदी है। डॉक्टर, शिक्षक, वकील, शिक्षाविद्,

नेता, छात्र, दादा-माफिया, बाबू, पत्नी, बच्चे अपने हकों के बारे में सिर्फ सजग ही नहीं है अपितु उन्हें छीन कर लेने का माद्दा भी रखते हैं। अपने माता-पिता के प्रति बहरापन नई पीढ़ी की जन्मजात सिफत है। आजकल हर आदमी एक-दूसरे को उल्लू बनाने में जुटा है। चाहे नेता हो या विक्रेता। हम कम पैसे देकर ज्यादा हासिल करना चाहते हैं, वह ज्यादा लेकर कम देना चाहता है।''[१०]

चुनाव में जिस घोषणापत्रों के माध्यम से बड़े-बड़े वादे किए जाते हैं, गरीबी हटाने का नारा दिया जाता है, विकास के नामपर विभिन्न योजनाओं का प्रचार-प्रसार किया जाता है। जमीनी हकीकत से आप सभी वाकिफ हैं। योजनाओं का लाभ, चंद लोगों को ही होता है। गरीब और गरीब होते जा रहें हैं, अमीर और अमीर होते जा रहे हैं। यह भारत की सच्ची दुर्दशा है, इस के जिम्मेदार असल में राजनेता ही हैं। निर्माण कहाँ करना है, किसे लाभ पहुंचाना है ये सब पूर्वनिर्धारित होता है। गरीबी की इस जहालत के जिम्मेदार नेताओं पर गोपाल चतुर्वेदी जी योजनाओं और घपलेबाजी का पर्दाफाश करते हैं। वे अपने '५१ श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं' व्यंग्य संग्रह में लिखते हैं- ''हमारे राष्ट्र-निर्माता हमें यकीन दिलाते हैं। मजदूर खुशी-खुशी पुल के नीचे जाते हैं, तभी तो लगातार शहर पधारते हैं। पुल, मकान, सड़क, अट्टालिकाएँ बनाते हैं। उनकी औरतें तकदीरवाली हैं, पीठ में बच्चे को बाँधकर ईंट-गारा ढोती हैं। शहर की कामकाजी महिलाएँ अधिकतर दफ्तर में बुनाई-कढ़ाई के लिए जाती हैं, पर उन बेचारियों को बच्चों का विछोह सहना पड़ता है। गाँव की औरतों के मर्द फावड़ा चलाते हैं, कभी-कभी बाँस की खपच्चियों पर खड़े होकर इमारत उठाते-उठाते खुद ढेर हो जाते हैं।''[११]

गोपाल चतुर्वेदी जी राजनीतिक उलटफेर और उसमें निहित घपलेबाजी का पर्दाफाश अपने व्यंग्य निबंधों में बेबाकी से करते हैं। जिन मूल्यों से समाज को नई दिशा मिलती है उसमें सेंध लगाने का कार्य हमारे भ्रष्ट राजनेताओं के माध्यम से होता है। छोटे-बड़े कार्यों में बराबर बेईमानी होती है और भ्रष्टतंत्र के द्वारा सभी को उनके हिस्से मिलते रहते हैं। एक योजना के तहत हजारोंकरोड़ों का हेराफेरी होती है। चुनाव में लाखों-करोड़ों का खर्चा पानी की तरह होता है। जनता के पैसों का दुरुपयोग इन नेताओं से लेके छोटे कर्मचारियों तक करते हैं। बड़े-बड़े पूंजीपतियों से धन लिए जा रहे है बदले में उन्हें लाखों-करोड़ों की जमीनें,कम ब्याज पर कर्जा और बड़े-बड़े कर्जे माफ कर दिए जाते हैं। सभी विभागों से हकवसूली कर के धन उगाही किया जाता है। पार्टी के नाम पर जो फंड एकत्रित किए जाते है वो काला बाजारी के ही धन है जो इस हाथ लेते और उस हाथ से पुनः भ्रष्टतंत्र को जन्म देते चलते हैं। चुनावजीतने के लिए सभी राजनैतिक दलों ने धर्म, जाति को आधार बनाए। यहां देश का नेता

कम जाति का नेता ज्यादा है। सभी दलों पर घोटाले का आरोप सिद्ध चुका है। देश का करोड़ों धन चंद लोगों के पास है शेष सभी गरीबी की जहालत में फंसे है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. सुभाष चंदर, 'हिन्दी व्यंग्य का इतिहास', संस्करण,२०१७, भावना प्रकाशन, दिल्ली, २८६
२. गोपाल चतुर्वेदी, 'सत्तापुर के नकटे', संस्करण, २०१४, सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, ६५
३. गोपाल चतुर्वेदी, 'निर्लज्ज समय के आस पास', संस्करण,२०१२, मेधा बुक्स, दिल्लीरू ४७
४. गोपाल चतुर्वेदी, '५१ श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं', संपादक-डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, संस्करण, २०१८, डायमंड बुक्स, दिल्ली, ५७
५. गोपाल चतुर्वेदी, 'कुरसी का कबीर', संस्करण,२०१२, ज्ञान गंगा, दिल्ली, १५६-१५७
६. गोपाल चतुर्वेदी, 'कुरसी का कबीर', संस्करण,२०१२, ज्ञान गंगा, दिल्ली, १३६
७. गोपाल चतुर्वेदी, 'कुरसी का कबीर', संस्करण, २०१२, ज्ञान गंगा, दिल्ली, १५७
८. गोपाल चतुर्वेदी, 'कुरसी का कबीर', संस्करण,२०१२, ज्ञान गंगा, दिल्ली, ४१
९. गोपाल चतुर्वेदी, 'कुरसी का कबीर', संस्करण,२०१२, ज्ञान गंगा, दिल्ली, ४०-४१
१०. गोपाल चतुर्वेदी, 'नैतिकता की लंगड़ी दौड़', संस्करण, २००२, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, ३५-३६
११. गोपाल चतुर्वेदी, '५१ श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं', संपादक-डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल, संस्करण, २०१८, डायमंड बुक्स, दिल्ली, ७८

-आचार्य (हिन्दी-विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
राहुल जायसवाल
शोध-छात्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

⊙

आत्मकथाओं में चित्रित नारी का स्वरूप

–सलमा खातुन

हर विधा की अपनी एक दुनिया है, जिसमें अपनी बात कहने के अनेक अन्दाज है। इन तमाम विधाओं में एक आत्मकथा भी है। आधुनिक परिदृष्य में तमाम हाशिए की अस्मिताओं ने पहले-पहले खुद को अभिव्यक्त करने के लिए आत्मकथाओं का ही चुनाव किया है। आत्मकथा का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। उस समाज में जहाँ 'आत्म' के बखान को ही आत्ममुग्धता समझा जाता हो, वहाँ आत्मकथा लेखन असाधारण साहस की माँग करता है। सोलहवीं शताब्दी अर्थात् मुगलकाल में, विशेषकरै इस्लाम के आगमन के बाद आत्मकथा/आत्मचरित, संस्मरण, यात्रावृत्तान्त लिखने का सिलसिला तेज हो गया। प्रायः सभी राजशाही परिवारों ने अपने सीमा-विस्तार के इतिहास व अपनी उपलब्धियों के प्रशंसा करने हेतु तथा अपने राज्य के प्रबन्धन की सुचारुता आदि के वर्णन हेतु तथाकथित आत्मचरित उर्दू, फारसी आदि भाषाओं में लिखे या लिखवाए। १८वीं सदी में ब्रिटिश उपनिवेश के स्थापित होने के ठीक पहले ग्यारह आत्मकथाओं का उल्लेख मिलता है। जैन कवि बनारसीदास की आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' भी इसी के आस-पास (सन् १६४१) में लिखी गयी थी, जिसे हिन्दी की पहली आधुनिक प्रामाणिक आत्मकथा होने का गौरव प्राप्त है।

'अर्द्धकथानक' बनारसीदास जैन कृत १६४१ में 'मध्यदेश' की बोली में रचित है। यह आत्मकथा परम्परा की अप्रतिम रचना है। 'अर्द्धकथानक' के बाद इस विधा में एक लम्बा अन्तराल रहा। कुछ भक्त कवियों द्वारा छिटपुट आत्म-चरित लिखे गये।

''हिन्दी साहित्यकारों में पहली आत्मकथा (गद्य में लिखी हुई) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की है। इन्होंने 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' नाम से आत्मकथा का अंश लिखा था जो कुछ कल्पना का पुट भी लिए है।''

चूँकि प्रत्येक लेखन का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है अतः आत्मकथा भी सोद्देश्य ही लिखी जाती है। सामाजिक दृष्टि से इनका काफी महत्व है। हरिवंशराय बच्चन ने कहा- ''जीवन की एक तस्वीर है आत्मकथा।'' अतः इन्होंने आत्मकथा को लिखने का उद्देश्य जीवन की तस्वीर को सभी के साथ साझा करने के अर्थ में बताया। आत्मकथा जीवन के सत्य का अन्वेशण है इसका मुख्य कारण जीवन की विविधता है। इसके साथ ही आत्मकथा आत्मनिष्ठ

विधा भी है किन्तु उसमें देशकाल-वातावरण का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। 'कैसे लेखक का व्यक्तित्व बना है, वह किन-किन परिस्थितियों के बीच से गुजरकर, कहाँ- कहाँ होता हुआ, कहाँ तक पहुँचा है- इसका जीवन चित्रण आत्मकथा में देखने को मिलता है। 'इसीलिए साहित्य की जो विधाएँ 'जीवन की आलोचना का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है, उनमें आत्मकथा का स्थान सर्वोपरि है।

बीसवीं सदी में आत्मकथा लेखन में तीव्रता आ रही थी जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञातव्य है कि इस विधा के लेखन का प्रारम्भ जैनकवि बनारसीदास के 'अर्द्धकथानक' (ब्रजभाषा) से हुआ। इसी परम्परा में प्रेमचन्द की 'हंस' पत्रिका का 'आत्मकथांक' आत्मकथा साहित्य और भविश्य के आत्मकथाकारों के लिए अपने पदचिन्हों के छाप को साहित्य की माटी पर सदा के लिए अंकित कर दिया। नए षोधों के अनुसार प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'आत्मकथांक' (१९३२, हंस) के पहले १९२७ में स्फुरना नामक स्त्री ने 'अबलाओं का इंसाफ' नामक आत्मकथा लिखा, जो कि चाँद पत्रिका (इलाहाबाद) से छपी थी। स्त्री द्वारा लिखी गई यह पहली आत्मकथा थी इसके पश्चात् १९५६ में जानकी देवी बजाज कृत 'मेरी जीवन यात्रा' नामक आत्मकथा में एक ऐसे स्त्री को चित्रित किया है जो जन्म तो बड़े घर में लेती है किन्तु स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय महात्मा गाँधी और भूदान आन्दोलन में विनोबा भावे के साथ जुड़कर स्त्री अस्मिता को एक नया आयाम देती है। 'नया आयाम' शब्द का प्रयोग उनके लिए इसलिए किया गया क्योंकि जिस घर में स्त्री कभी घर के 'चौखट' से बाहर कदम नहीं रखती उस घर से निकलकर उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। जानकी जी की पहचान सामाजिक कार्यकर्ता की नहीं थी न ही किसी साहित्यकार की थी, किन्तु उन्होंने अपने जीवन के संघर्षों से जो कुछ भी सीखा जो भी पाया उसे रिषभदासजी रांका को प्रसंगवश सुनाया और रांका जी ने उसे लिपिबद्ध किया। स्त्री आत्मकथाकारों में कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', रमणिका गुप्ता की 'हादसे', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा', दिनेशनन्दिनी डालमिया की 'मुझे माफ करना', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना', पद्मा सचदेव की 'बूँद बावड़ी', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै', मन्नू भण्डारी की 'एक कहानी यह भी', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' तथा सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' आदि प्रमुख है।

स्त्रियाँ यदि इतिहास के पन्नों से अनुपस्थित अथवा कम उपस्थिति के साथ दिखाई पड़ती है तो उसके पीछे एक कारण यह भी है कि स्वयं स्त्रियों ने अपने इतिहास-लेखन के बारे में कभी नहीं सोचा परन्तु कालान्तर में विचारों में आधुनिकता और प्रगतिशीलता आई है जिससे महिलाएँ अपने संघर्ष, अपने दुःख-सुख, अपनी यात्रा और अपनी संवेदना स्वयं ही मुखरित

होकर कह रही है उनका मानना है कि उनकी परेशानियाँ, उनकी संवेदनाएँ कोई पुरुष आत्मकथाकार उतनी अच्छी तरह प्रस्तुत नहीं कर सकते जितनी कि महिलाएँ क्योंकि महिलाएँ केवल संघर्ष ही नहीं करती उन संघर्षों में फँसती भी है और उनसे निकलने का यत्न भी करती है अपनी सम्पूर्ण जिम्मेदारियों के निर्वहन के साथ जिसकी साक्षी भी वह स्वयं ही है। स्त्री आत्मकथाओं को पढ़कर भी उसमें 'समाज में स्त्री समानता की लड़ाई' को लेकर लेखिकाओं की जद्दोजेहद को महसूस किया जा सकता है। स्त्री समाज की पहली लड़ाई पितृसत्ता के खिलाफ शुरू हुई जिसका मूल लक्ष्य था समाज में 'अपने होने' को साबित करना। पर सवाल यह है कि वह अपने आपको कैसे साबित करे। क्या साबित करें कि उसके व्यक्तित्व को संतुष्टि के साथ उसका अपना दर्जा मिले। इस कड़ी में उसने अपने आप को परिवार के समक्ष, विषेशतः पति के समक्ष समर्पित कर दिया किन्तु इसका परिणाम क्या रहा। मानसिक तनाव, कुंठा, अवसाद, अपने अन्तर्मन में चल रहे विचारों या द्वन्द्वों को किसी के समक्ष न कह पाना इत्यादि समस्याएँ आई और वह धीरे-धीरे अपने अस्तित्व को मिटाती जा रही थी। समकालीन पाश्चात्य विचार के अनुसार, विवाह मात्र एक सामाजिक समझौता है, जो मनुष्य के कर्त्तव्यों के बदले में लाभ प्राप्त करने के योग्य बनाता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने विवाह संस्था पर सवाल उठाते हुए लिखा है- 'विवाह इकलौती ऐसी सामाजिक व्यवस्था रह गयी है, जिसे कई मामलों में बन्धक व्यवस्था कहा जा सकता है। हर घर की गृहिणी के अलावा अब कोई गुलाम नहीं बचा है। पुरुष पाठकगण को आज इस आधुनिकता और बाजारीकरण के दौर में यह अनर्गल प्रलाप लगता होगा किन्तु सदियों से चली आ रही क्रूरता, हिंसा और अपमान का बस स्वरूप भर बदला है स्थिति स्त्रियों की बिल्कुल वैसी ही है, दोयम दर्जे की। आज स्त्रियों के पास ऑप्शन है अपनी बची-खुची इज्जत को समाज के निगाहों से बचाने की वह होंठों पर मुस्कुराहट, साजों श्रृंगार और चेहरे पर फाउंडेशन तथा मेक-अप लगाकर हर उस चिन्ह को मिटा देना चाहती है जो कि उसकी आत्मा पर न मिटने वाली लकीर की भाँति खींच दी गयी है। घरेलू हिंसा, यौन सम्बन्ध के लिए बाध्य करना, अपनी पत्नी के मनोभावों को समझने की चेष्टा न करना, गर्भ निरोधक गोलियों के प्रयोग करने के लिए बाध्य करना इत्यादि द्वारा पुरुष ने अपनी स्त्री की आत्मा पर असंख्य लकीरें खींची, असंख्य जख्म उसकी मनःस्थिति पर उभरे जिससे वह जर्जर हो गयी और इससे केवल विनाश ही हुआ क्योंकि स्त्री के स्वस्थ न रहने से जो संतति उत्पन्न हुई वह भी अस्वस्थ और मानसिक तौर पर रुग्ण ही हुई और यह क्रम अब तक चल ही रही है। 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी लिखती है- ''बच्चा होने में कुल दो माह रह गये थे तब भी ये मुझे सुशीला के यहाँ छोड़कर रानीखेत चले गये..... बच्चे के जन्म को ये मेरा काम और सुशीला की जिम्मेदारी समझकर मात्र तटस्थ ही नहीं रहे, बल्कि इन सबसे उदासीन भी रहे।

वैवाहिक सम्बन्धों में स्त्री की गरिमा का प्रश्न हमेशा से प्रासंगिक रहा है। पुरुषों ने सदैव स्त्री की गरिमा का कोई ध्यान न रखा, उसे जब-जब मौका मिला, उसे नीचा दिखाने का कोई अवसर नहीं छोड़ा गया। सुशीला टाकाभौरे पति एवं ससुराल पक्ष द्वारा प्रताड़ित की गयी। वे लिखतीं हैं- मैं एक सतर्क नौकरानी की तरह हर काम के लिए तुरन्त हाजिर रहती थीं। और वे मुझे अक्सर कहते थे- ''तू मेरे सामने कुछ भी नहीं है। तेरी औकात सिर्फ एक बर्तन माँजने वाली नौकरानी के बराबर है....'' गुस्से में कभी कुछ कहती तो ऐसे समय मुझे यह सुनना पड़ता- ''तेरा मुँह गन्दगी की गटर है। जब भी मुँह खोलती है, गटर की गन्दगी उगलती है। उस समय लगता ही नहीं था कि यह मेरा पति है। पति क्या ऐसा दुश्मन होता है। गुस्सा क्या सिर्फ उन्हें ही आता है। मुझे नहीं आता। गुस्सा आने पर मै क्या एक-दो बात भी नहीं बोल सकती।''

इन सबसे ऊपर उठकर अपनी पहचान बनाने के लिए स्त्री शिक्षा की ओर बढ़ती है और वह शिक्षित होकर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना चाहती है परन्तु यह भी समाज को सह्य नहीं और वह स्त्री को कायदे-कानून और नियमों में रहने की हिदायत देती है। जैसे 'प्रभा खेतान की माताजी ने घर में लड़कियों का पढ़ना-लिखना बन्द करवा दिया, कारण, घर का काम सीखने के लिए। प्रभा खेतान बहुत दुःख के साथ उस स्थिति को बताते हुए कहती है- 'अम्मा ने गोखले मेमोरियल कॉन्वेंट स्कूल से गीता और मेरा नाम कटा दिया, 'घर बैठो, राई-जीरा चुनो, सिलाई-कढ़ाई करो।' जबकि एक समय ऐसा भी आया जब उनकी यही माँ किसी पढ़ी-लिखी स्वावलम्बी स्त्री को देखती तो कहतीं : 'तुम लोग जरूर रुपया कमाना, अपने पैरों पर खड़ी होना। आखिर हमें क्या मिला। बस बच्चे पैदा करती रही।'

स्त्रियों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से समाज के हर वर्ग की महिला की पीड़ा, शोषण, मानसिक तनाव को उजागर किया है। जब उसने अपने ऊपर हो रहे जुल्म के खिलाफ आवाज उठाया और उसे लिपिबद्ध किया तो समाज उसे चरित्रहीना और न जाने क्या-क्या कहने के लिए आमादा हो उठा। शहरों के पाठकवर्ग सोचते होंगे कि यह पुरानी बात है जब से आधुनिकता आई है यह सब नहीं होता महिलाएँ केवल सहानुभूति पाने के लिए गल्प गढ़ती है, परन्तु आप सब विश्वास कीजिए अभी भी स्थिति में सुधार बाकी है, ग्रामीण महिलाओं के समक्ष अलग चुनौतियाँ है और शहरी महिलाओं के समक्ष अलग; स्वरूप अलग है किन्तु पीड़ा एक ही है, वह है-अपने अस्तित्व की पीड़ा। ग्रामीण स्तर पर बेटी के न होने की कामना और पुत्र प्राप्ति के लिए मानता करना, पूजा-पाठ, तन्त्र-योग सारी विधियाँ की जाती है किन्तु इसके बाद भी यदि बेटी हो जाए भी तो समाज उस पुरुष को दूसरी पत्नी लाने का सुझाव देता है कारण- पुत्र प्राप्ति की असीमित आकांक्षा। इसी तरह शहर में भी यदि न चाहते हुए भी बेटी

जन्म ले तो पिता के मन में कहीं न कहीं यह दबी भावना रहती है कि आगे वंश चलाने के लिए एक बेटा आवश्यक है या फिर वह बेटी के लिए सोचता है कि इसके स्थान पर बेटा होता तो फलाँ नामकरण करता आदि। इस प्रकार की दबी आकांक्षाएँ कभी न कभी बच्चों के सम्मुख आ ही जाती है चूँकि परिवार ही बच्चे की पहली पाठशाला होती है जहाँ से वह सीखता है, किन्तु इसी परिवार में जब वह बचपन से स्त्री और पुरुषों के बीच भेदभाव को देखता है तो वह उसी के अनुरूप व्यवहार भी करने लगता है और सारी कुंठाएँ जड़ पकड़ने लगती है। लड़के और लड़की के बीच यह भेदभाव यह कुंठा लड़कियों में असुरक्षा और ईर्ष्या को जन्म देती है। ''मेरे दो साल बाद मेरा भाई पैदा हुआ था। सारा बचपन मैं उससे ईर्ष्या करती रही।"

वर्तमान समय में जब माता-पिता अपनी बेटियों को शिक्षित करने के लिए तैयार भी हुए है और शिक्षित कर भी रहे है तो आगे चलकर उन्हीं शिक्षित बेटियों की शादी करने के लिए कई बार वर पक्ष की ओर से नौकरी न करके गृहिणी बने रहने जैसे प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना होता है अब बताइए कि जिस समाज को अँगूठा दिखाकर माता-पिता अपनी बेटियों को मेट्रोपोलिटन सिटी में पढ़ने के लिए भेज देते है, बेटी की षादी करते वक्त वह उसी समाज से कई बार दबने लगते हैं और जब शादी हो जाती है तो फिर उसी स्त्री की आकांक्षाएँ कुंठा के रूप में सामने आती है और इन्हीं सबमें उसका अपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। पुरुष कितनी भी प्रगतिशीलता की बातें क्यों न करें लेकिन एक बिन्दु पर आकर वह ठहर ही जाते है और अपने सारे सिद्धान्त को सिरे से खारिज करते हुए प्रतीत होते है वह बिन्दु है उनकी अपनी पत्नी और उसकी आकांक्षाओं का विषय। आत्मनिर्भर स्त्री के रूप में कार्यरत रमणिका गुप्ता से उनके पति प्रकाश सवाल पूछते है, ''तुम हीरोइन का रोल क्यों करती हो। तुम्हें उस रोल में देखकर मुझे ईर्ष्या होती है। तुम माँ और बहन का रोल क्यों नहीं करतीं. ..... वह सब तो अभिनय ही होता है न प्रकाश, कोई सच थोड़े ही होता है। मुझ पर विष्वास रखो।..... मैं यह बर्दाष्त नहीं कर सकता।'' रमणिका लिखती हैं- ''उस मुहल्ले में प्रकाष की पहचान मेरे पति के रूप में थी। प्रकाश ने वह घर ही बदल दिया। इसी प्रकार 'अन्या से अनन्या' में डॉ० सर्राफ प्रेमिका प्रभा की प्रगति से खुश नहीं बल्कि पछताते है, ''मैंने तुम्हें पैसा कमाना सिखाकर गलती की।" और..... ''मुझे अपनी कमजोरी पर गुस्सा आता है। तुम आगे बढ़ रही हो और मैं पिछड़ रहा हूँ।'' स्त्री का पुरुष से आगे निकलना पुरुष को सरलता से स्वीकार्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में पुरुष या तो आक्रामक हो उठता है या हीनभावना से ग्रसित हो जाता है। मन्नू भंडारी ने राजेन्द्र यादव के बारे में लिखा है- ''मेरे कॉलेज जाने के पीछे अगर बच्चों को देखा तो वे उसकी आया बनकर रह जायेंगे और उनका

अहं उन्हें इस बात की अनुमति नहीं देता था।'' मन्नू भंडारी नौकरी करते हुए स्वयं ही बच्ची की परवरिश करती है। मन्नू सवाल उठाती है- ''माँ अगर बच्चे को रखे तो माँ और अगर बाप बच्चे को रखे तो वह बाप न होकर आया कैसे हो गया।''

इसी प्रकार इस संसार में प्रत्येक महिला और पुरुष का अपना इतिहास और अपनी एक दास्तां है जो कि सभी की दर्ज नहीं है किन्तु कुछ का लिखित दस्तावेज उपलब्ध है चाहे वह आत्मकथा के माध्यम से हो, जीवनी या संस्मरण के माध्यम से जिसमें शोषण, पीड़ा, कुंठा और तनाव के लिए सवाल उठाया गया है और खासकर स्त्रियों द्वारा यह सवाल उठाया गया है कि पूर्ण समर्पण के बावजूद वह अपने पति के लिए विश्वासपात्र क्यों नहीं हो पाती। क्यों उन्हें बार-बार अपने आपको प्रमाणित करना पड़ता है। सवाल उठाती स्त्रियाँ अपनी आत्मकथाओं के द्वारा पाठकवर्ग को अपने भोगे हुए यथार्थ के बारे में बताती है। आत्मकथाओं के द्वारा आत्मकथाकार अस्मिता की लड़ाई को लड़ते है वह समाज के समक्ष उस यथार्थ को रखते है जिस पर कहीं न कहीं आवरण पड़ा था लेकिन आत्मकथाकारों ने उस आवरण को हटाकर साहस करके स्वयं के गुण-दोषों के साथ ही समाज, आस-पास के लोग यहाँ तक कि पति-पत्नी तक के रिश्ते के सच को समाज के सामने पूरी सत्यता और ईमानदारी के साथ लिखित दस्तावेज के रूप में रख दिया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी-हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास पृ०-१६२ संस्करण-२०१६, प्रकाशन- लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग महात्मा गाँधी मार्ग

२. आत्मकथा और स्त्री, लेखक-रमाशंकर कुशवाहा, पृ०सं०-२५ संस्करण-२०२४ प्रकाशन-अद्वैत प्रकाशन ई-१७, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

३. आत्मकथा और स्त्री- रमाशंकर कुशवाहा, पृ०सं०-८४ संस्करण-२०२४, प्रकाषक- अद्वैत प्रकाशन, ई-१७ पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

४. जॉन स्टुअर्ट मिल, 'द सब्जेक्शन ऑफ विमेन, अनु युगांक धीर, पृ०-८७

५. एक कहानी यह भी, लेखिका-मन्नू भंडारी, पृ०सं०-५६ संस्करण-२०२५ प्रकाशन-राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

६. शिकंजे का दर्द लेखिका-सुशीला टाकभौरे, पृ०-२०३

७. अन्या से अनन्या, लेखिका-प्रभा खेतान, पृ०-१७

८. सुषमा बेदी, 'आरोह-अवरोह' पृ०सं०-५६

९. रमणिका गुप्ता, 'आपहुदरी', पृ०सं-२४८

१०. रमणिका गुप्ता, 'आपहुदरी', पृ०सं०-२३८

११. अन्या से अनन्या, लेखिका-प्रभा खेतान, पृ०सं-१३
१२. अन्या से अनन्या, लेखिका-प्रभा खेतान, पृ०सं०-१३
१३. एक कहानी यह भी, लेखिका- मन्नू भंडारी, पृ०सं०-४५
१४. एक कहानी यह भी, लेखिका-मन्नू भंडारी, पृ०सं०-४५

-डॉ० अरुण कुमार वर्मा
शोध निर्देशक, हिंदी विभाग
एमडीपीजी कॉलेज, प्रतापगढ़
संबद्ध प्रो० राजेंद्र सिंह (रज्जू भैया) विश्वविद्यालय
प्रयागराज, उत्तर प्रदेश
सलमा खातुन
शोध छात्रा, एमडीपीजी कॉलेज, प्रतापगढ़
संबद्ध प्रो० राजेंद्र सिंह (रज्जू भैया) विश्वविद्यालय
प्रयागराज, उत्तर प्रदेश
मोबाइल नं०- ८८८७६१५७६३

⊙

भारतीय आदिवासी समाज का स्वातन्त्र्य बोध : इतिहास, परम्परा और जीवन-दर्शन का विश्लेषण

–त्रिपुरेश गोंड

किसी घटक विशेष के इतिहास और दर्शन की जानकारी के अभाव में उस समुदाय विशेष पर लिखा जाना बेमानी होगी। आदिवासियों ने गुलामी से मुक्ति पाने के लिए कई स्तरों पर संघर्ष किया। आदिवासियों के इतिहास और उनके जीवन-दर्शन की जानकारी के अभाव में हम आदिवासी साहित्य विमर्श का संही विवेचन नहीं कर सकते।

आदिवासी समाज का भारतीय आदिवासी समाज का स्वातंत्र्य बोधः इतिहास, परंपरा और जीवन-दर्शन का विश्लेषण उतना ही पुरातन है जितना स्वयं मानव सभ्यता का। उनके शांत और प्राकृतिक जीवन में पहला बड़ा व्यवधान आर्य-अनार्य संघर्ष के समय आया, जब उन्हें मैदानी इलाकों से हटकर वनों की ओर जाना पड़ा। उन्होंने जंगल को अपनी जीवनशैली का सहज हिस्सा बना लिया। यद्यपि उनके बीच परिवार की संस्था विद्यमान थी, फिर भी व्यक्ति और निजी संपत्ति की अवधारणा वैसी नहीं थी जैसी मुख्यधारा समाज में विकसित हुई। उनकी सामाजिक संरचना सामूहिकता और सहयोग पर आधारित रही है।

पुराणों और अन्य प्राचीन ग्रंथों में आदिवासियों के अस्तित्व के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इन समुदायों को यक्ष, किन्नर, किम्पुरुष, नाग, गंधर्व, सुपर्ण, विद्याधर, वानर, राक्षस, असुर, दैत्य आदि विविध नामों से जाना गया है। महाभारत काल तक आर्य भारत में पूरी तरह प्रवेश कर चुके थे, और आर्य-अनार्य संघर्ष जारी था। महाभारत की एक कथा के अनुसार, जब पांडव कृष्ण की सलाह पर इंद्रप्रस्थ बसाने के लिए 'खांडव वन' को जलाने लगे, तब नाग समुदाय ने इसका तीव्र विरोध किया। इंद्र ने वर्षा कर नागों का साथ दिया, और कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाकर पांडवों और उनके सहयोगियों को आश्रय दिया। यह वह समय था जब मानव समाज आखेट युग से कृषि युग की ओर बढ़ रहा था। वनों और वन्य जीवों पर आश्रित नाग समुदाय ने अपनी जीवन पद्धति की रक्षा के लिए इस विनाश का विरोध किया।

संताल, मुंडा, भील, असुर व मीणा सहित कई आदिवासी समुदायों का संबंध सिन्धु घाटी की सभ्यता से रहा है। भाषा, लिपि, राज चिह्न एवं मुहरों से संबंधित उत्खनित अवशेषों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक डिस्कवरी

ऑफ इंडिया में लिखा था कि 'आदिवासियों के बहुत सारे गणतांत्रिक समाज-राज्य थे और उनमें से कई बहुत बड़े क्षेत्र पर स्थापित थे। संविधान के उद्देश्य संकल्प के अभिभाषण के दौरान जयपाल सिंह मुंडा ने अपना परिचय आदिवासी इतिहास को ध्यान में रखते हुए दिया था। यह कुछ इस प्रकार था, ''मैं जिस सिंधुघाटी सभ्यता का वंशज हूँ, उसका इतिहास बंताता है कि आप में से अधिकांश लोग, जो यहाँ बैठे हैं, बाहरी हैं, घुसपैठिए हैं। जिनके कारण हमारे लोगों को अपनी धरती छोड़कर जंगलों में जाना पड़ा।"[1] यह कथन सुनते ही आज का पाठक जयपाल सिंह मुंडा से विपरीत मत रखने लगता है, लेकिन मानवशास्त्रीय व्याख्याएँ इसे पुष्ट कर चुकी हैं कि किसी देश के ज्ञात प्राचीनतम निवासी उस देश के मूल निवासी हैं।

स्पष्ट है कि आर्यों के आगमन से पूर्व सिन्धु नदी के 'सैन्धव', गंगा-यमुना के 'गांगेय' और बहुत पहले लुप्त हो चुकी सरस्वती नदी के 'सारस्वत प्रदेश' पर आर्यों से पूर्व आदिवासी कबीलों का अधिकार था जिन्हें आर्यों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप पहाड़ी व घने जंगली क्षेत्रों की ओर धकेला गया या उन्हें विस्थापन के पश्चात उन अंचलों में पुनर्वासित होना पड़ा। इन सभ्यताओं के लुप्त होने का कारण इतिहासकारों और उत्खनन कर्ताओं ने भीषण बाढ़ मानकर इन सभ्यताओं के इतिहास का अर्थपूर्ण विवेचन नहीं किया। बाढ़ की आपदा से पूर्व ही इन्हें जंगलों में खदेड़ दिया गया था। उत्तर और मध्य भारत के आदिवासियों का जीवन अपेक्षाकृत अधिक संघर्षपूर्ण रहा। आर्य और अनार्य के बीच चले संघर्षों के बाद, विदेशी आक्रांता ईरान के मार्ग से भारत पहुँचे। इनमें प्रमुख रूप से शक, हूण और तुर्क शामिल थे। इन्होंने वर्षों तक भारतीय भूभाग पर अपना शासन कायम रखा। आदिवासियों के राज्य उनसे छीन लिए गए और भारी संख्या में उन्हें दासता की जंजीरों में जकड़ दिया गया। विजेता जातियाँ पराजित समुदाय को तुच्छ दृष्टि से देखती रहीं, फिर भी सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर पर इनके प्रभाव सीमित रहे तथा आदिवासी समुदायों को वनों से पूरी तरह विस्थापित नहीं किया जा सका। मध्यकालीन इतिहास में आदिवासी प्रतिरोध के उल्लेख अत्यंत दुर्लभ हैं। झारखण्ड की 'सिनगीदई' नामक वीरांगना, जिन्होंने मुग़ल सेना का सामना किया, एक अपवाद स्वरूप उदाहरण हैं। यह क्षेत्र अभी भी गंभीर शोध की माँग करता है।

इसके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी का आगमन हुआ। कंपनी शासन ने विभिन्न रियासतों से संधियाँ कीं, जिनके मुख्य बिंदु थे-वन संसाधनों पर नियंत्रण, खनिज सम्पदा का दोहन और संभावित आदिवासी विद्रोहों के दमन हेतु सैन्य शक्ति का प्रयोग। इन नीतियों के तहत कंपनी एक शोषक और अधिनायकवादी सत्ता बन गई। रियासतों के सामंतों ने भी आदिवासियों से उनके मौलिक अधिकार छीन लिए, उन्हें जबरन श्रम करवाया और कई प्रकार के करों का बोझ डाला। जैसे-जैसे उनकी स्वतंत्रता सिमटती गई, वैसे-वैसे शोषण और गरीबी बढ़ती गई।

समय के साथ रियासतों का उत्तराधिकार जारी रहा और कंपनी का हस्तक्षेप गहराता गया। रियासती अत्याचार, ब्रिटिश शासन का अन्यायपूर्ण हस्तक्षेप, तथा लगातार होते दमन, भूख, महामारी और अभाव ने आदिवासी समाज को आशंका, अनिश्चितता और अविश्वास की गहरी दलदल में धकेल दिया। ऐसे माहौल में यह स्वाभाविक था कि आदिवासी अपने अधिकारों की रक्षा हेतु संगठित होकर आंदोलित हों। इस संदर्भ में सुनील गोयल और संगीता गोयल ने अपनी कृति 'भारत में सामाजिक परिवर्तन' में विस्तार से विवेचना की है। सन् १७६५ ई. के पहले 'खासी' जनजाति के सदस्यों द्वारा यह अनुभव किया गया कि अंग्रेजी शासन द्वारा देश को बरबाद किया जा रहा है तथा विभिन्न माध्यमों से उनका शोषण किया जा रहा है। उनका आंदोलन, जो बाद में विद्रोह के रूप में परिवर्तित हो गया, के द्वारा अंग्रेजों का विरोध किया। जनजाति आंदोलन में 'खासी आंदोलन' सर्वप्रथम स्थान रखता है।[२] अन्य आंदोलनों में पलामू विद्रोह (सन् १७७०-७१), खानदेश आंदोलन (सन् १८१७-१८४६ राजस्थान में भील जनजाति द्वारा), संथाल विद्रोह (३० मार्च १८५५-१८५७, संथाल परगना, झारखण्ड, छोटा नागपुर क्षेत्र में संथाल जनजाति द्वारा), बिरसा मुंडा आंदोलन (सन् १८९०-१९०७-मुंडा जनजाति द्वारा), मानगढ़ आंदोलन (०७ नवम्बर १९१३ भील-मीणा आदिवासियों द्वारा), नागारानी गाईदिल्लयू (सन् १९३२-४७) आदि प्रमुख हैं।

'तिलका मांझी' पहला भारतीय था जिसे अंग्रेजों ने फांसी दी। तिलका मांझी भारत का साहसी क्रांतिकारी था। उनका आंदोलन क्षेत्र संथाल परगना था। उन्होंने सन् १७८१ में अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन की शुरुआत की। आदिवासी तीर-धनुष लेकर संघर्ष कर रहे थे और अंग्रेज आधुनिक हथियारों से उनका जवाब दे रहे थे। परिणामस्वरूप ३८८ आदिवासी इसमें शहीद हुए। तिलका मांझी को प्रथम स्वतंत्रता सेनानी माना जाता है। यह पहला भारतीय था जिसे अंग्रेजों ने फांसी दी थी। अंग्रेजों ने १३ जनवरी, १७८५ को तिलका मांझी को बरगद के पेड़ से लटकाकर फांसी दे दी थी।

इतिहास में इन आंदोलनों का जिक्र नहीं किया गया है। जहाँ छुट-पुट लिखा गया है वहाँ इन्हें आदिवासियों द्वारा किया गया उपद्रव कहकर इतिहास के फुटकल खाते में डाल दिया गया। हिंदी साहित्य का इतिहास ही नहीं भारतीय संदर्भ में जो भी इतिहास-लेखन के कार्य हुए हैं वे सब अपूर्ण एवं अधूरे हैं।

आदिवासी समुदाय ने अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु अनेक संघर्ष किए हैं। सत्ता से उन्हें वंचित किया गया और बाहरी आक्रांताओं द्वारा छलपूर्वक दासता के बंधन में जकड़ा गया। औपनिवेशिक शासनकाल में भी उन्हें संगठित योजना के तहत ठगा गया। इस काल में आदिवासियों के शोषण के तीन मुख्य कारण रहे।

प्रथम कारण था- लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा लागू की गई 'स्थायी भू-राजस्व व्यवस्था १७९३', जिसके अंतर्गत आदिवासियों को लालच देकर जंगलों से समतल क्षेत्रों की ओर आकर्षित किया गया। इस प्रक्रिया में उनका दोहरा शोषण हुआ एक ओर वे अपने पारंपरिक वनों से वंचित हुए, जिससे उनके जीविकोपार्जन के साधन छिन गए, और दूसरी और मैदानी क्षेत्रों में उन पर करों का बोझ लाद दिया गया।

द्वितीय कारण था- 'वन अधिनियम १८६५', जिसके अंतर्गत जंगलों को सरकारी संपत्ति घोषित कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप आदिवासी अपने ही वनों से बेदखल कर दिए गए। इस प्रकार एक योजनाबद्ध एवं तथाकथित वैधानिक तरीके से इस समुदाय को उनके मूल जीवन से वंचित कर पीड़ित किया गया।

तृतीय कारण था- 'आपराधिक जनजाति अधिनियम १८७१', जिसके तहत बारह वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक आदिवासी को थाने में अपनी उपस्थिति दर्ज करानी होती थी। यदि वह अपने गाँव से बाहर किसी कार्य हेतु जाता, तो संबंधित पुलिस थानों को सूचित करना अनिवार्य था। इस कानून की आड़ में प्रशासन द्वारा आदिवासियों को अकारण थानों, चौकियों और सामंती केंद्रों में बुलाकर अत्याचार किया जाने लगा। आदिवासियों का अब तक का इतिहास संघर्षों का इतिहास रहा है। डॉ. प्रमोद मीणा के अनुसार, ''आदिवासियों को आधुनिक समाज से सबसे बड़ी नाराजगी ही यह है कि उनके स्वायत्त क्षेत्र में 'दिकू' क्यों दखल देता है। भील-मुंडा-मीणा-संथाल-नागा आदि आदिवासी जातियाँ किसी जमाने में शासन में रही हैं। 'दिकू' लोगों ने छल-कपट से जल-जंगल-जमीन छीनकर इन्हें बेघर किया है।"[३] पूर्व में कई आदिवासी राजाओं के राज्य थे। इसका एक प्रबल उदाहरण हैं गोंडवाना क्षेत्र के गोंड राजा का राज्य था।

दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र को तीन प्रमुख विभागों में वर्गीकृत किया है-तत्त्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा और मूल्य मीमांसा। इनमें सबसे जटिल और रहस्यपूर्ण प्रश्न तत्त्व मीमांसा का रहा है, जिसके माध्यम से ब्रह्मांड की उत्पत्ति और उसके मूल कारण को समझने का प्रयास किया गया है। इस रहस्य को सुलझाने हेतु मूल तत्त्व की खोज की गई-जहाँ आध्यात्मवादी ईश्वर को मूल मानते हैं, वहीं भौतिकवादी विचारधारा पदार्थ को प्राथमिक तत्त्व के रूप में स्वीकार करती है।

ज्ञान मीमांसा के अंतर्गत ज्ञान के स्रोत, स्वरूप, प्रमाणिकता और सीमाओं का विश्लेषण किया जाता है। इसके प्रमुख सिद्धांतों में बुद्धिवाद, अनुभववाद और अन्तःप्रज्ञावाद प्रमुख हैं।

मूल्य मीमांसा में मूल्यों की प्रकृति और मानदंडों का अध्ययन किया जाता है, जिसमें शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक और सामाजिक-असामाजिक आचरण का विवेचन किया जाता है।

सृष्टि की उत्पत्ति से संबंधित आदिवासियों के अपने मिथक हैं। अलग-अलग समुदायों ने अपनी-अपनी मिथकीय संकल्पना से सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्याएँ की, लेकिन सभी मिथकों में प्रकृति और प्रकृति के उपादानों का उल्लेख हुआ है। यहीं से आदिवासियों के जीवन-दर्शन की व्याख्याएँ प्रकृति केंद्रित हुई। आदिवासियों ने प्रकृति को मूल तत्त्व माना।

'मोसू दो रोटी बाजरा के ले लौ और मोकू दो रोटी गेहूं की दे दो।'

आदिवासियों की वस्तु विनिमय की यह परंपरा आदिवासियों की उदात्त जीवन-परंपराओं में से एक है। राजस्थान में करौली जिले की टोडाभीम तहसील की शेखपुरा ग्राम पंचायत में बहुसंख्यक रूप में आदिवासी निवास करते हैं। यहाँ एक पेड़ बहुतायत से मिलता है- 'पीलू' स्थानीय आदिवासियों द्वारा इसके प्रयोग की प्रक्रिया से इसे और अधिक अर्थपूर्ण रूप में समझा जा सकता है।

पीलू वृक्ष दीर्घायु होता है। लगभग सत्तर वर्षों के उपरांत इसकी झाड़ी से मुख्य तना विकसित होता है। मंद, गर्म हवाओं के स्पर्श से पीलू के फल पकते हैं, किंतु तीव्र झोंकों और आँधी के कारण ये फल झड़ने लगते हैं। गिरने के बाद ये चींटियों के उपयोग में आ जाते हैं। पीलू मुख्यतः तीन प्रकार के पाए जाते हैं-लाल, सफेद और पीले। इसके सेवन का भी विशेष तरीका होता है। इसे एक-एक कर खाने से मुख में छाले पड़ सकते हैं, अतः इसे एक साथ मुट्ठीभर खाया जाता है।

स्थानीय आदिवासी समुदाय में प्रचलन है कि बच्चे प्रातःकाल जल से भरा एक पात्र लेकर पीलू तोड़ने निकलते हैं। वे यह जल वृक्ष की जड़ों में अर्पित करते हैं। यह प्रक्रिया प्रकृति को समर्पण की भावना से जुड़ी है, जहां से वस्तु-विनिमय की परंपरा की शुरुआत मानी जाती है-प्रकृति को उसकी आवश्यकता देना और बदले में उससे फल, फूल, गोंद आदि प्राप्त करना उनके जीवन का आधार है। जल अर्पण के बाद वे अपने पाँव के चप्पल उतार कर वृक्ष पर चढ़ते हैं। वृक्ष की अंतिम और नर्म शाखाओं, जिन्हें 'लफ़रें' कहा जाता है, पर पीलू अधिक फलते हैं। किंतु इनसे फल तोड़ना निषिद्ध माना जाता है, क्योंकि इन्हीं शीर्ष शाखाओं से वृक्ष का भविष्य निर्माण होता है। इसी कारण, लफ़रों से फल तोड़ना 'पाप' की संज्ञा में आता है।

जल अर्पण वस्तु-विनिमय का प्रतीक है, तो चप्पल उतारकर वृक्ष पर चढ़ना पीलू को सम्मान देने और उसे देवतुल्य मानने की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। इसके अतिरिक्त, वृक्ष पर चढ़कर गीत गाने की परंपरा भी रही है, जिससे लोकगायन की समृद्ध परंपराएँ विकसित हुई हैं। एक प्रचलित गीत है- ''पीलू-पीलू में गिन्दोड़ी, नीचे डोलै रंडुआ!"

इसके साथ ही पीलू पर चढ़कर खेले जाने वाले खेल भी आदिवासी जीवन का हिस्सा थे, जिनमें 'गुलाक-कांखड़ी' जैसे खेल प्रमुख हैं। समुदाय की मान्यता थी कि जिस वर्ष पीलू

वृक्षों पर अधिक मात्रा में 'वगर' (फूल) आते हैं, उस वर्ष अच्छी वर्षा होती है। इस प्रकार, वर्षा की भविष्यवाणी हेतु यह उनका पारंपरिक, अनुभवजन्य वैज्ञानिक पैमाना था। कहने का तात्पर्य यह है कि आदिवासियों के एक पेड़ से वस्तु-विनिमय, धर्म, आदिवासी विज्ञान, मानसून संबंधी आँकड़े, उदात्त आदिवासी परंपराएँ और आदिवासी जीवन-दर्शन आदि को अर्थपूर्ण रूप में समझा जा सकता है।

आदिवासी दर्शन का प्रकृति से रागात्मक संबंध है। इसे वंदना टेटे के कथन से और अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। उनके अनुसार, ''आदिवासी दर्शन मानव की सभी गतिविधियों और व्यवहारों को, समूची विकासात्मक प्रक्रिया को प्रकृति व समष्टि के विरुद्ध नहीं, बल्कि उसके पूरक के रूप में देखता है। उन सबका उपयोग वह वहीं तक करता है, जहाँ तक समष्टि के किसी भी वस्तु अथवा जीव को, प्रकृति और धरती को कोई गंभीर क्षति नहीं पहुंचती हो। जीवन का क्षरण अथवा क्षय नहीं होता हो। आदिवासी साहित्य इसी दर्शन को लेकर चलता हैं।"[४] वंदना टेटे के इस कथन को और अधिक तर्कपूर्ण अर्थ में समझने के लिए सिएटल के रेड इंडियन आदिवासी मुखिया द्वारा १८५४ई. में अमेरिकी राष्ट्रपति को लिखे गए पत्र का वाचन अपेक्षित है। इसका विस्तृत विवेचन तीसरे अध्याय में किया गया है।

संविधान के उद्देश्य संकल्प के अभिभाषण में जयपाल सिंह मुंडा ने जो कहा वही बात लगभग ८० साल बाद वंदना टेटे कहती हैं कि आदिवासियों के पास लोकतंत्र और इंसानियत सीखने जाओ, सिखाने नहीं। वंदना टेटे के अनुसार, "यह अजीब बात है कि धरती, स्त्री, समष्टि को रंग, नश्ल, धर्म, लिंग और जाति में विभाजित करने वाला भारतीय समाज व साहित्य, जो खुद को मुख्यधारा घोषित करता है, वह समताजीवी आदिवासी समाज को इंसानियत की सीख दे रहा है। आदिवासी दर्शन और साहित्य को नष्ट करने में लगा हुआ है। आदिवासी स्त्री कवियों की चेतना इससे इतर 'स्त्रीवादी' नहीं है। वे अपने श्री अस्तित्व को सामुदायिक आदिवासी अस्तित्व से अलग नहीं मानतीं।[५]

इस संबंध में उज्ज्वला ज्योति तिग्गा की 'कवि मन जनी मन' शीर्षक कविता द्रष्टव्य है-

''इतना तो तय है
कि सब कुछ के बावजूद
हम जिएंगे जंगली घास बनकर पनपेंगे,
खिलेंगे जंगली फूलों-सा हर कहीं, सब ओर
मुर्झाने, सूख जाने, रौंदे जाने कुचले जाने, मसले जाने पर भी
बार-बार, मचलती है कहीं
खिलते रहने और पनपने की कोई जिद्दी-सी धुन" [६]

केन्याई आदिवासी लेखक और दार्शनिक जहन सामुएल म्बिती (१९६९ई.) कहते हैं, ''आदिवासी धर्म और दर्शन के अध्ययन में बाहरी दुनिया को सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि इस बारे में कहीं कुछ लिखित नहीं है। यह सिर्फ आदिवासी समुदाय के प्रत्येक लोगों के दिल, दिमाग, अनुष्ठानों और रीति-रिवाजों में संरक्षित है, जिसका वाहक पूरा समुदाय है। इस परंपरा के वहन की सचेत जिम्मेदारी उन लोगों पर होती है जो समुदाय के अगुआ हैं, समुदाय और ग्राम के प्रधान हैं और जो अनुष्ठानिक व ज्ञान परंपरा के सामुदायिक प्रमुख हैं।"[७] अखड़ा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कोई दर्शक नहीं होता। हर दर्शक परफॉरमर होता है और हर परफॉरमर दर्शक होता है। अर्थात् अखड़ा में प्रत्येक व्यक्ति नाचता ही नाचता है और गाता ही गाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आदिवासी दर्शन जिस सामूहिकता और सामासिकता का द्योतक है वह परंपरा से उनके पुरखों से मिलता आया है। नई पीढ़ी की यह जिम्मेदारी है कि वे इन जीवन-मूल्यों के वाहक बनें।

साहित्य में आदिवासी दर्शन के संबंध में वंदना टेटे से सहमत हुआ जा सकता है। उनके अनुसार, ''यदि लोग ऐसा कह रहे हैं कि साहित्य का उद्देश्य क्रांति, नई समाज व्यवस्था और नया मनुष्य रचना है, तो आदिवासी विश्वदृष्टि के मुताबिक यह फौरी कार्यभार है, जीवन का स्थाई मूल्य नहीं। इसलिए आदिवासी जीवन के स्थाई मूल्य- सामूहिकता, सहजीविता, सहअस्तित्व हैं, वही उसकी समस्त अभिव्यक्तियों का भी उद्देश्य है। इसमें साहित्य भी शामिल है।"[८] वंदना टेटे के अनुसार आदिवासियों का दर्शन मूलतः रचाव और बचाव का दर्शन है।

डॉ० सावित्री बड़ाईक ने अपने आलेख 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी कविताएँ' में आदिवासी दर्शन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, ''आदिवासी दर्शन श्रेष्ठ जीवन मूल्यों पर आधारित है, जिसमें समानता, सामूहिकता, सहभागिता, सहजीविता, सहअस्तित्व को महत्त्व दिया जाता है। प्रकृति के साथ लगाव-जुड़ाव रखने के कारण आदिवासियों में ही सहअस्तित्व के सूत्र खोजे जा सकते हैं।"[९] आदिवासियों का मूल जीवन आधुनिक भौतिक सभ्यता से कोसों दूर है। यदि कोई आदिवासी बांसुरी या मांदर बजाने में निपुण है तब वह उसका विशेष गुण तो है, लेकिन उसे खेत में भी काम करना पड़ेगा। हल चलाने, फसल काटने, दंवरी करने और फसल में पानी देने का काम उसके लिए भी अनिवार्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपनी कला को व्यवसाय नहीं बनाता।

आदिवासी जीवन-दर्शन में समानता और सामूहिकता जैसे जीवन-मूल्य हैं। डॉ० सावित्री बड़ाईक ने 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी कविताएँ' शीर्षक अपने लेख में लिखा है कि, ''आदिवासी समाजों में स्त्री पुरुषों में गैर बराबरी न के बराबर है। जनगणना के आंकड़े भी इसे सही साबित करते हैं। सन् २०११ की जनगणना के अनुसार देश में प्रति

१००० पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या ९४० है और आदिवासियों में ९९० है। आदिवासी स्त्रियों को अपना जीवन साथी चुनने का अधिकार है। स्त्री पुरुष दोनों मिलकर खेती-बाड़ी के द्वारा अपना जीवन खुशहाल करने में लगे रहते हैं।[१०] अतः कहना न होगा की आदिवासी समाजों में लोकतांत्रिक मूल्य उनके जीवनानुभवों की उपज हैं। ये मूल्य सदियों से इनके पास हैं।

आदिवासी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण प्रश्न इसकी वर्तमान प्रासंगिकता से भी जुड़ा हुआ है। वैश्विक परिप्रेक्ष्य में आदिवासी जीवन-दृष्टि की कितनी उपयोगिता है, यह विचारणीय है। इस विषय में ग्लैडसन डुंगडुंग की एक टिप्पणी से सहमति व्यक्त की जा सकती है। अपने लेख 'आदिवासी दर्शन के पास ही दुनिया को लौटना है' में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि आज की दुनिया को आदिवासी जीवन-मूल्यों की ओर फिर से लौटने की ज़रूरत है और उन्होंने इस दर्शन की समकालीन महत्ता को रेखांकित किया है। ''यूरोप के लोग जो दुनिया में सबसे विकसित हैं, वे कह रहे हैं कि हमें आदिवासी जीवन-दर्शन को अपनाना होगा। उन्हीं के जैसे जीना होगा। ऐसा वे पहले नहीं कहते थे। आज कह रहे हैं क्योंकि ग्लोबल वार्मिंग के संकट ने उनको ऐसा कहने के लिए मजबूर कर दिया है। जिससे बचने के लिए वैज्ञानिकों को भी कोई उपाय नहीं सूझ रहा है।"[११] आदिवासी साहित्य और इतिहास की प्रासंगिकता का सवाल भी इसी से जुड़ा हुआ है। ग्लैडसन डुंगडुंग ने अपने इसी आलेख में लिखा है, ''आदिवासी जीवन-दर्शन पर आधारित साहित्य और इतिहास लेखन से दुनिया को बचाए रखने की मुहिम को हर सूरत में आगे ले जाना होगा।"[१२] धरती का तापमान लगातार बढ़ रहा है और इसे रोकने के समस्त उपाय निष्प्रभावी हो रहे हैं। ऐसे में विकसित देशों और समाजों को लग रहा है कि आदिवासी दर्शन ही पूरी दुनिया को इस संकट से बचा सकता है।

आदिवासी जीवन-दृष्टि की नींव समानता, सामूहिकता, सहभागिता, सहजीवन और सह-अस्तित्व जैसे मूलभूत तत्वों पर टिकी होती है। इन सिद्धांतों पर आदिवासी समुदाय की गहरी आस्था है। उनका जीवन-दर्शन समग्र रूप में एक ओर समस्त मानव समाज के आदि पूर्वजों के प्रकृति से जुड़े प्रेम और सामंजस्य की अहमियत को उजागर करता है, तो दूसरी ओर यह आधुनिक उपभोक्तावादी सभ्यता और दृष्टिकोण से उत्पन्न विविध संकटों के समाधान की दिशा भी सुझाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. पिछले छह हज़ार सालों से हम आदिवासी उत्पीड़ित हैं, संघर्ष में है, वक्ता जयपाल सिंह मुंडा (आदिवासी दर्शन और साहित्य, संपा-वदना टेटे) पृष्ठ संख्या-१५६

२. सठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जन-जीवन, लेखक डहृ. श्यामराव राठौड़, पृष्ठ संख्या-४८

३. आदिवासी विमर्श के मायने, लेखक प्रमोद मीणा (सबलोक, अंक ०१ जनवरी २०११, संपादक- किशन कालजयी) पृष्ठ संख्या-३९
४. आदिवासी दर्शन और साहित्य, लेखिका वंदना टेटे, पृष्ठ संख्या-३३
५. वही, पृष्ठ संख्या- ४८
६. वही, पृष्ठ संख्या- ४८-४९
७. वही, पृष्ठ संख्या- ३५
८. वही, पृष्ठ संख्या- २६-२७
९. आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी कविताएँ, लेखिका डॉ. सावित्री बडाइक, पृष्ठ संख्या-८०
१०. वही, पृष्ठ संख्या, ८०-८१
११. आदिवासी दर्शन के पास ही दुनिया को लौटना है, लेखक- ग्लैडसन डुंगडुंग, पृष्ठ संख्या, ६३
१२. वहीं, पृष्ठ से ६४-६५

-हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वद्यालय
ईमेल -tgdu7701@gmail.com
प्रो. स्नेह लता नेगी
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल-sinegi@hindi-du-ac-in

भारतीय सौन्दर्य बोध के विविध सोपान

–सच्चिदानन्द मिश्र

आलेख

भारतीय सौंदर्य-बोध मूलत भारतीय संस्कृति के विविध आयामों से विकसित माना जाता है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार 'सत्यं-शिवं-सुन्दर' की अभिप्रेरणा है जो वैदिक काल से चलकर अब तक के विभिन्न साहित्यक विधाओं और ललित कलाओं में देखी जा सकती है। भारतीय साहित्य में सौंदर्य को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। यह मानव व्यवहार से जुड़कर उसे सभ्यता की उत्कृष्टता की ओर अग्रगामी बनाता है। भारतीय सौंदर्य दृष्टिकोण न तो धार्मिक है और न ही धर्मनिरपेक्ष, यह सभी स्थितियों में तटस्थ है। जिस तरह का द्वैत भाव सौंदर्य के प्रति पाश्चात्य देशों में रहा है वैसा भारत में नहीं दिखता है। जब धर्म के संस्थापक और उपदेशक जनता का ध्यान परलोक के अलौकिक सौंदर्य पर केंद्रित करते हैं तब धार्मिकता और सांसारिकता का भेद उत्पन्न होता है। लोक धर्म समानतः संसार को स्वीकार करता हैं। भारत में धर्म अर्थ और काम तीनों का समन्वय मोक्ष की ओर ले जाता है। इसमें परस्पर संघर्ष की स्थिती नहीं दिखती।

भारत में वैदिक काल से लेकर अब तक कलाओं के विभिन्न रूपों में सौन्दर्य का विवेचन होता आ रहा है। सौन्दर्य के स्वरूप विवेचन के क्रम में इस पर बहुत सारे सवाल उठाए गए हैं, जैसे क्या शरीर का गुण सौन्दर्य है? क्या उसका संबंध चेतना से हैं? क्या सौन्दर्य आत्मनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ? क्या सौन्दर्य इन दोनों का सामूहित रूप है? सौन्दर्य के सही स्वरूप तक पहुँचने का यह क्रम विभिन्न शास्त्रार्थ और आचार्य की मेधा का परिणाम रहा है। भारतीय परम्परा में सौन्दर्य विवेचन के संकेत वैदिक काल से मिलने लगते हैं। वैदिक सौन्दर्य दृष्टि आध्यात्मिक रही है। इसमें सौन्दर्य की अनुभूति को आनन्द की अनुभूति के रूप में देखा गया है। इस आनन्द का उदय मनुष्य में कब हुआ यह कहना कठिन हैं। शायद यह मनुष्य को ईश्वर का विशेष उपहार है। मानव उस आनन्दमय ब्रह्म का अंश होने के कारण उससे भी आनन्द का गुण प्राप्त करता है। मनुष्य में इस आनन्द की अनुभूति, सौन्दर्य के अनुभूति का पर्याय है। वेद में सौन्दर्य शब्द के बदले आनंद, मोह या ब्रह्मा की अपराजित हिरण्यपुरी मिलता है यही हिरण्यपुरी आनंद का स्रोत है। वेदकालीन मनुष्य प्रकृति के सभी स्वरूपों में

वनस्पतियों, पर्वतों, सागर, वायु, सूर्य सभी में एक दिव्यता की झलक देखता था। उसके लिए सूर्य केवल आग का गोला नहीं था, वह समस्त संसार का मंगल करने वाला एक दिव्य शक्ति था। इस प्रकार वह समस्त प्राकृतिक वस्तु को दिव्य मानकर उसकी पूजा करता था। अपने को वह विराट विश्व की दिव्य सत्ता के सामने समर्पित कर देता था और उसी से उसे आनन्द की अनुभूति होती थी। इसी अनुभूति से ही सौन्दर्य का प्रकटीकरण होता था। वेद कालीन सौन्दर्य अन्तःकरण का सौन्दर्य था, जिसमें आध्यात्मिकता निहित थी।

यदि भारतीय संस्कृति के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद की बात की जाए तो वहां भी सौंदर्य के पर्यायी शब्दों का संबोधन मिलता है, इनमें 'श्री' और 'चारु' प्रमुख हैं। वैदिक काल के अन्य ग्रंथों में भी सौंदर्य शब्द के पर्याय को परम सत्ता के शुभ गुणों के रूप में देखा गया है। अमरकोष में सुन्दर शब्द तथा उसके अनके पर्याय शब्द मिलते है।

यथा-

"सुन्दर रूचिरं चारू, सुषमं, साधु, शोभनम्।
कान्त, मनोरम, रूच्वं मनोज्ञ, मजु मंजुलम,
अभीष्टेभीप्तिं, हृदय, दयितं, वल्लम, प्रियंम।" [१]

ऐसा माना जाता है कि सच्चे सौंदर्य में ही ईश्वर का वास है और वह ईश्वर का अंश है। वेदों में उन सभी सूक्ष्म गुणों की चर्चा की गई है जो सौंदर्य की पूर्णता की ओर संकेत करते हैं। उपनिषदों में तो सोलह कलाओं की चर्चा है जो सौंदर्य-बोध को विस्तार देने वाले हैं। भारतीय जीवनदर्शन का तो चरम लक्ष्य ही मोक्ष प्राप्त करना है और कलाओं में निहित सौंदर्य उसे प्राप्त करने का साधन बताया गया है। उपनिषद में सौंदर्य के दो लक्षण प्रकाश और आनंद का भी वर्णन मिलता है इसी का आधार लेकर आगे के आचार्यों ने रस को 'स्वप्रकाशानंद' भी कहा है।

भरत मुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में सौंदर्य के दस गुणों का विस्तार से वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में गायन, नृत्य, वादन, भाषणकला की क्रियाओं में सौंदर्य विधान का वर्णन किया गया है और इन क्रियाओं में सूक्ष्म सौंदर्य उत्पन्न होने का भी वर्णन मिलता है। इन्होंने नाटक के सन्दर्भ में तीन अवस्थाओं की ओर संकेत किया हैं-'एवं रसाश्च भावाश्च त्रयवस्था नाटके स्मृताः'[१] भरत के अनुसार रस प्रेक्षक और नट के बीच स्वयमेव रूपांतरित होता है। वह कभी-कभी प्रतीकों के माध्यम से स्वयं ही स्पन्दित होता है। विभाव- अनुभाव व्यभिचारी के संयोग से प्रकट हुए स्थायी भाव का रस रूप में स्वयमेव रूपांतरण हो जाता है। इस रूपांतरण की स्वाभाविक प्रक्रिया में रस की अभिव्यक्ति भी होती है और अनुभूति भी। वस्तुतः भरत का रस सूत्र ही भारतीय सौन्दर्य दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। भरत के अनुसार मंचीय

रस आठ है, स्थायी भी आठ है परंतु भावोद्रेक दो ही मनोदशाओं के रूप में प्रकट होता है और वो है- हर्ष या विषाद। सृजन की प्रक्रिया तथा आस्वादन की प्रक्रिया दोनों का लक्ष्य रस ही है।

उसके बाद ईसा की छठी सदी में भामह, आठवीं सदी में दंडी, फिर रुद्रट और वामन का क्रम आता है, जिन्होंने सौंदर्य के विभिन्न प्रयोजनों की चर्चा की है। इसी दौरान शिल्प पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण, एवं अग्नि पुराण में चित्र एवं अन्य कलाओं की भी चर्चा मिलती थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी नागरक के संदर्भ में कला और कौशलों की सूचियाँ मिलती थीं। कामसूत्र की टीका लिखने वाले यशोधर ने कला के षडंगों की चर्चा की जिनमें - रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य एवं वर्णिकाभंग आदि प्रमुख हैं। इन अलंकार शास्त्रीय ग्रंथों की दूसरी परंपरा में (७वीं से आठवीं सदी) जिन्हें मध्यकालीन शास्त्रीय चिंतन कह सकते हैं, भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक, आनंदवर्धन एवं अभिनव गुप्त के ग्रंथ प्रमुख हैं। इनके काव्य ग्रंथों में भी सौंदर्य अभिव्यक्ति की चर्चा मिलती है।

भारतीय सौंदर्य दृष्टि की चर्चा महाकवि कालिदास के बिना अधूरी जान पड़ती हैं। कालिदास के ग्रंथों में गुप्तकालीन समाज और संस्कृति का सौंदर्यमय वर्णन मिलता हैं। उनका साहित्य प्रकृति के विविध रूपों के साथ तादात्म स्थापित करता हुआ चलता है। ''अभिज्ञान शाकुन्तलम''[२] के प्रथम अंक मे हिरणों की क्रीड़ाएँ, भौरों की रागमयी गुंजार, माधवी और केतकी की मादक सुगन्ध, शीतल छाया प्रदान करने वाले अशोक और कदम्ब के वृक्षों का सजीव वर्णन मिलता है। जो प्रकृति दृश्यों के प्रति विशेष सौंदर्यमय अनुराग उत्पन्न करता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के चौथे अंक में जब ऋषि कण्व शकुन्तला को पति-गृह के लिए विदा करते हैं तो आश्रमवासियों के साथ वृक्ष एवं लताएं भी दुःखी होते हैं। शकुन्तला के विछोह को वे सहन नहीं कर सके। मृगियों ने तृण खाना छोड़ दिया है, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताएं पत्तों के रूप में आंसू बहा रही हैं। शकुंतला द्वारा पालित मृग-शिशु भी शकुन्तला से लिपट जाता है। इस प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तलम् में शकुन्तला के यौवन सौन्दर्य और प्रकृति वर्णन अद्वितीय है। कालीदास ने जिस सूक्ष्मता के साथ प्रकृति का मानवीकरण किया है, वह भविष्य के कवियों के लिए अनुकरणीय बन गया। प्रकृति-सौन्दर्य के साथ-साथ कालीदास का नारी सौन्दर्य वर्णन भी मनमोहक है। आगे के सौंदर्य शास्त्रीयों में पंडितराज जगन्नाथ का प्रमुख स्थान है। पंडितराज जगन्नाथ ने भरत के रससूत्र के सभी अवयवों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने 'रमणीयता' को दार्शनिक आधार बनाकर सौंदर्यशास्त्र की नींव रखी। उनके अनुसार 'रमणीयता' में केवल वर्तमान का बोध नहीं बल्कि सांस्कृतिक अनुभव अर्थात् संस्कार भी शामिल हैं। संस्कार और ज्ञान का ऐसा संयोग सौंदर्य के क्षेत्र से ढूंढ निकालना पंडितराज

की मौलिकता है। 'रमणीयता' सौंदर्य तथा चमत्कार में इस तरह घुल मिल जाते हैं कि उनमें भेद कर पाना कठिन है। फलतः, वे रस के बजाय सौंदर्य की, आनंद के बजाय आह्लाद की, स्थितिजन्य के बजाय चमत्कारत्व की अभिनव कल्पना करते हैं। उन्हें भारतीय सौंदर्यशास्त्र में वामगार्डन की उपमा दी जाती है।

यदि साहित्य से सौंदर्य को निकाल दें तो साहित्य का बहुत कुछ भाग अधूरा रह जाएगा। सौंदर्य से ही स्वस्थ बौद्धिक परंपरा का निर्वाह चलता है। हमारी परंपरा के आदर्श चरित्र राम, कृष्ण और गौतम ने धर्म का पालन करते हुए संसार में कर्म-सौन्दर्य का आधार लेकर धर्म और मानवता की स्थापना की थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, ''हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म-सौन्दर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गए हैं। कर्म-सौन्दर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय आप से आप उनकी ओर खिंच जाता है।''[३] सौन्दर्य का कोई भी रूप हो, साहित्य को प्राणवान बनाता है। उसमें प्राणवत्ता की संश्लिष्ट के लिए अनुभूतिगत अभिव्यक्ति काव्योचित कल्पना के अनुरूप होनी चाहिए। ''जिस कलाकृति द्वारा मन में आनंद की अनुभूति होती है, यह सौंदर्य है। सौंदर्य एक भावना है, जिसे हम चेतन तक लाकर सजाते हैं।''[४] भारतीय वाङ्मय में वस्तुगत, आत्मगत या भावगत सौन्दर्य के माध्यम से जिस आन्तरिक अभिव्यंजना की बात कही गई है, साहित्य में उसका विस्तार से वर्णन मिलता है। जो अगम्य और अबोध्य है, उसे अनुभूय और बोधगम्य बनाना इसी सौन्दर्य का काम है। आधुनिक जीवन के विघटन की परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर आज का कवि क्षण की अनुभूति को लेकर चल रहा है। सौन्दर्य स्थायी वस्तु न रहकर क्षणिक अनुभूति का विषय हो गया है, किन्तु सौन्दर्य साहित्य से कभी हट नहीं सका।

सौंदर्य काव्य की प्रमुखता का वह लेखा-जोखा है, जिसके आधार पर रचना मूर्त रूप धारण करती है। काव्यभाषा, पुराख्यान तत्व (मिथक), चमत्कार, बिम्ब, प्रतीक, तुकान्त, अतुकान्त छन्द आदि ऐसे उपादान है, जिनके कलेवर में समाहित सौंदर्य काव्य की महत्ता, उसकी उपलब्धि एवं उपादेयता सिद्ध करता है। आज की कविता का कठोर किन्तु मानवीय सत्य तपे तपाये शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। डॉ० लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार- ''श्रद्धा, विश्वास, आस्था उसकी आत्मनिष्ठा के पूरक हैं और इसीलिए वे मात्र शब्द नहीं हैं, जिनको सुनकर रोमांच हो जाए या जो आत्मविभोर कर दें, वरन ये शब्द उसके सौन्दर्य-बोध के साथ जीवन के क्षणों में व्याप्त होते हैं, तपी हुई संघर्षमय आग में तपते हैं और नए रूप में प्रस्तुत होते हैं।''[५] अद्यतन कविता में 'लोहे के चने चबाना' जैसी उक्तियों का प्रयोग नये धरातल पर किया गया है-

"कठिन है लोहे का चना होना,
क्योंकि प्रमुख शब्दों के दाँत पहले ही टूट गए है।"[६]

यथार्थ के साथ पलायन की निष्क्रियता नहीं, बल्कि उसकी स्वीकृति महत्वपूर्ण होती है। यही कारण है कि "सौन्दर्य का वह ज्ञान जो उनकी केवल कोमल वाणी, कोमल पदावली और कोमल भाव-भंगिमा तक सीमित था, वह जीवन और जीवन से सम्बद्ध यथार्थ का साक्षात्कार करने को बढ़ा तो वह ठण्डे आइसबर्ग की रजताभा बनकर ही सीमित नहीं रह सका, वरन उसे उस पसीने और श्लय-श्रम का भी बोध हुआ जो यथार्थ के सन्दर्भ में प्रतिपल विकसित हो रहा था।"[७] यदि इस यथार्थगत सौन्दर्य की अवहेलना कर दी जाए, या उसे जीवन की परिधि से मुक्त कर दिया जाए तो वर्तमान साहित्य का ढाँचा जर्जरित कंकाल मात्र रह जाएगा उसमें सौंदर्य की आभा का लोप होना तय है।

उपर्युक्त विश्लेषणों के आधार पर हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि भारतीय सौंदर्य-बोध की परंपरा का विस्तार बहुत व्यापक है। हजारों वर्षों से यह अविछिन्न रूप से प्रवाह मान है। सौन्दर्य की उपलब्धि अंतः और बाह्य दोनों ही कारणों से मानी जा सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई सुदंर वस्तु सभी को सुन्दर प्रतीत हो। सौन्दर्य अनुभवनिष्ठ भी हो सकता है। कमल अथवा गुलाब का फूल, नदी का कल-कल कर बहना, झरने का गिरना सभी को सुंदर लग सकता है किन्तु मानवीय भावनाओं के आधार पर देखा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति को अपना आराध्य देवी देवता, एवं प्रियजन रूपवान अथवा कुरूप होने पर भी सुन्दर प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ प्रेम ही प्रधान भाव बनकर सौन्दर्य का अनुभव करा देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य केवल वस्तु का गुण नहीं है बल्कि मानसिक प्रतीति भी है। विद्वानों ने सौंदर्य का संबंध रस के साथ जोड़ते हुए उसे आनंद का मूलभूत तत्त्व बताया है विभिन्न समीक्षकों, सौन्दर्यशास्त्रियों एवं दार्शनिकों ने भी अपने सिद्धान्तों और तर्कों से इसे मजबूत आधार दिया हैं। सौन्दर्य-बोध की इस विराटता एवं उसकी अनंतता को ठीक तरह से निश्चित कर पाना कठिन कार्य है। किंतु साहित्य में सौंदर्य की उपादेयता चिर नूतन और चिर अवयव के रूप में अनवरत बनी रहेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. डॉ० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र भाग १, भा. व. उ. प्रसाद परिषद् काशी, वि. सं. १९९६
२. बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय, नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, चौ.सं. संस्थान, वाराणसी, १८७९
३. काशीनाथ द्विवेदी, अभिज्ञानशाकुन्तलम् एक अध्ययन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि भाग-१, श्रद्धा-भक्ति, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १८६७

५. डॉ० कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण-१८५२
६. लक्ष्मीकान्त वर्मा नयी कविता के प्रतिमान, भारती प्रेस प्रकाशन इलाहाबाद
७. लीलाधर जगूड़ी, नाटक जारी है, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, १८६१
८. लक्ष्मीकान्त वर्मा नयी कविता के प्रतिमान भारती प्रेस प्रकाशन इलाहाबाद १८४६

-शोधार्थी (हिंदी विभाग)
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय धर्मशाला
पत्राचार का पता- ग्रा./पो. कोर्रो, मंझनपुर,
कौशाम्बी उ.प्र.-११६६
दूरभाष-८३४६३६७३३
ईमेल sacchidanandm44@gmail.com

⊙

हिन्दी महिला यात्रासाहित्य में उभरता सितारा : अनुराधा बेनीवाल

–गायत्री करापिया

चरैवेति चरैवेति चरन् वै मधु विन्दति- अर्थात् चलते रहो, चलते रहो। चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है। चलना ही जीवन है। यात्रा चलने का ही नाम है। जिसमें आलस्य या आराम का कोई स्थान नहीं है।

हिन्दी साहित्य में यात्रा साहित्य का जिक्र आते ही हमें याद आते मोहन राकेश, राहुल सांकृत्यायन, निर्मल वर्मा। पर किसी महिला का नाम जल्दी याद नहीं आता। आखिर ऐसा क्यों? क्या महिलायें यात्रा नहीं करती? क्या महिलायें अपना सारा जीवन घर की चार दीवारी या एक ही शहर में व्यतीत कर देती हैं? या वह यात्रा करती तो हैं किन्तु अपने यात्रा के अनुभवों को शब्दों में ढाल कर अपने यात्रिक अनुभवों को साहित्य का नाम नहीं देती? शायद अंतिम कारण सत्य हैं।

चाहे पहले की महिलाओं ने अपने साहसिक यात्रिक अनुभवों को शब्दों में ना प्रस्तुत किया हो, किन्तु आज की महिला ना सिर्फ अकेली यात्रा करने की हिम्मत रखती बल्कि अपने एकल यात्रा अनुभवों को बेहद ही स्पष्ट और बेखौफ शब्दों में संसार के समक्ष रखने का भरपूर साहस भी रखती हैं। ऐसी ही एक साहसिक यात्री हैं अनुराधा बेनीवाल। जिन्होंने अपनी पुस्तक ''आजादी मेरा ब्रांड'' से महिला यात्रा साहित्य को एक नवीन दृष्टि प्रदान करी हैं। २०१३ में लंदन जाने से पहले स्वावलंबी अनुराधा जी ने अपनी बचत के पैसों से भारत के अलग-अलग हिस्सों में अकेले भ्रमण किया था।

आजादी मेरा ब्रांड यह पुस्तक महिला यात्रा साहित्य में आए बदलाव की पहल हैं। इस यात्रा साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यही है कि इसमे अनुराधा जी एकाकी विदेश यात्रा कर रही हैं। अनुराधा जी की इस एकाकी यात्रा में आप ज्ञान से भारी नहीं होते, सफर से हल्के होते हैं। न उन्होंने कही ज्ञान जुटाने की कोशिश की, और न पाठक को वह थाती सौंप कर अमर होने की। इसलिए यह पुस्तक एक यात्रा वृतांत ना रह कर खुद एक यात्रा बन गई हैं।

प्रस्तावना और भूमिका के साथ १२ यात्रिक अध्यायों में समायोजित आजादी मेरा ब्रांड अनुराधा जी के विदेश भ्रमण का एक दस्तावेज हैं। नए जामने की भारतीय फकीरन

अनुराधा जी खुद को लेखिका नहीं मानती हैं। किन्तु अपने पहला अध्याय की शुरुआत ही उन्होंने औपन्यासिक रूप से की हैं। अध्याय का नाम हैं आजादी मेरा ब्रांड, फेवरेट! शुरुआत में ही लेखिका ने अपने महिलाओं पर समाज की बंदिश को लेकर अपने क्रांतिकारी विचार व्यक्त किए। इक्कीस साल की इतालियन लड़की रमोना जो अकेली यात्रा करती हैं भारत में आती हैं और अनुराधा जी की मित्र बन जाती हैं। लेखिका उस लड़की को ही अपने अंदर बैठे यायावर को जागाने की प्रेरणा मानती हैं। रमोना को देख ही अनुराधा जी ने लड़कियों के विषय में भारतीय समाज की मानसिकता पर व्यंग्य भी किया हैं। इस अध्याय में लेखिका ने रमोना से प्रभावित होने के कारण बताए हैं।रमोना ने ही अनुराधाजी को कहा था-

स्वयं लेखिका कहती है-

"Go travel al one, If you really want to live."

''रमोना को चले जाना था चली, गई। उसके साथ जो वक्त गुजरा वह यादों का जिंदा बाग है। उसकी संगत में जो मैंने आजादी चख ली थी, वह दिन-ब-दिन मेरे दिलो-दिमाग में फैलने लगी थी। समय बीता और आखिरकार दस साल बाद मैं उसे आजमाने निकल पड़ी। यह दस साल क्यों और कैसे लग गए मुझे-इन सवालों के जवाब मैं आगे दूँगी। लेकिन आज मैं जैसी हूँ, वहाँ वैसी होने का बड़ा श्रेय, मैं आजादी की उस पहली झलक को देना चाहूँगी।" (बेनीवाल, २०१६)

नक्शे से बाहर कोई रास्ता में अनुराधा जी ने अपने घर बचपन शिक्षा आदि की बात की हैं साथ ही अपने मन की कसमसाहट की बात करी है। यही चीज उन्हें लंदन खींच ले गई थी।

''गलत क्या और सही क्या- यह भी हम अपने अनुभव से कहाँ समझ पाते हैं! चूँकि हमें कहा जाता है कि यह गलत है और वह सही है, इसलिए हम मान लेते हैं कि ऐसा ही है। मानना हमारी बाध्यता है, स्वाभाविकता नहीं। जीवन को तर्क के चश्मे से देखने की आजादी भी हम लड़कियों के लिए एक दुर्लभ उपलब्धि है। उसको मैं अपने देश भारत में आधा-अधूरा ही पा सकी। जो पाया वह परिवार के स्तर पर, समाज के स्तर पर तो असंभव बात रही। शायद इन्हीं अभावों की बेचैनी लिये मैं लंदन आ गई! कहने में अच्छा तो यह लगता है कि यहाँ आजादी ढूँढ़ने आई थी। लेकिन यह भी कोई बात है भला! यूँ कोई आजादी ढूँढ़ने के मिशन पर निकला इन्सान कभी देखा है आपने? मैंने भी नहीं देखा है। जी नहीं, सपने में भी नहीं और आईने में भी नहीं! मैं भी पारिवारिक कारणों से और काम ढूँढ़ने के ख्याल से आई थी लंदन, लेकिन मन में जो उलझने थीं, वो अपने सुलझने की कोई राह भी जैसे ढूँढ़

रही थीं। मुझे दुनिया के तयशुदा रास्तों के बीच से अलग एक रास्ता अपनी आजादी का बनाना था। एक आजाद लड़की का अपना बनाया रास्ता....'' (बेनीवाल, २०१६)

अनुराधाजी एक सर्वगुण सम्पन्न यायावर हैं। अकेले सफर का आनंद लेनी वाली अनुराधाजी में एक यायावर की सारी खूबियाँ मौजूद है। उनके यात्रा- वृतांत में उनकी ये सारी खूबियाँ देखने को मिलती है।

क्रांतिकारी सोच एक भारतीय महिला यात्राकार के लिए बहुत आवश्यक गुण हैं। एक भारतीय नारी के लिए अकेले यात्रा करना आसान काम नहीं हैं। इसके लिए एक मजबूत मानसिकता का होना जरूरी है। जो समाज के साथ-साथ राह में आने वाली मुश्किलों का भी दृढ़ता से सामना कर सके। अनुराधाजी ने भी इन सबका सामना किया है वे स्वयं कहती हैं।

''पर मेरा बड़ा सवाल सोसाइटी में इज्जत का था! मेरे तो घर का कॉन्ट्रेक्ट भी 'अच्छी लड़की' बने रहने से ही रिन्यू होता था।" (बेनीवाल, २०१६)

आजादी मेरा ब्रांड इस पुस्तक में अनुराधाजी के ऐसे ही स्वतंत्र विचार अनेक स्थानों पर प्रकट हुए हैं-

''मेरे जीवन की सारी मुश्किलें तब तक थीं, जब तक पाँव दोनों नावों में साधे रखने की कोशिश बनी हुई थी। एक तरफ मान्यताओं और पाबंदियों से आजाद भी होना था और दूसरी तरफ खुदको 'संस्कारी' भी कहलवाना था। देह और मन की भी सुननी थी और समाज की भी। लेकिन जब मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे कैसा होना है या कैसे जीना है, यह केवल मैं तय करूंगी-तो जाने किस तरह से आस-पास के परिचित, दोस्त-रिश्तेदार भी मेरे अनुकूल होते चले गए ! मेरी बेपरवाही ने मेरा जीना आसान कर दिया।" (बेनीवाल, २०१६)

अनुराधाजी कि यह पुस्तक यात्रा-अनुभवों के साथ-साथ स्त्री-दर्शन भी हमारे समक्ष रखती है। इसलिए अनामिकाजी ने इस विषय में लिखा हैं-

''आजादी मेरा ब्रांड नए सिरे से स्त्री-दर्शन का यह आधारभूत तथ्य रेखांकित कर रही है कि परिवार रक्त और यौन संबंधों के दायरे तक सीमित नहीं माने जा सकते। यौनिकता, नैतिकता और पारिवारिकता की नई परिभाषाएं कोई पदानुक्रम नहीं मानतीं, न लड़का-लड़की के बीच, न पाठक-लेखक के.....अनुराधा अपने वृतांत में जिन चुनिंदा क्षणों का प्रति-संसार रचती है, उसका बस एक ही सपना है कि किसी के जीवन का स्विच किसी और के हाथ में न हो....." (अनामिकाजी, २०१६)

विदेशों में घूमते हुए अनुराधाजी को यह बात महसूस होती है कि विदेशों में भारतीय स्त्री की दशा भारत के समान ही है-

''जिनके सुखी जीवन की सोच भारत में सभी आहे भरते हैं। यह सपना संजोते हैं, बेबी यहां विदेश में कैसी दोहरी और मुश्किल जिंदगी जिए जा रही हैं। कैसा ढकोसला है जीवन का की दबे ढके सारे गुलछर्रे भी उड़ाने हैं और परिवार को जबरन खुश भी दिखाना है उसको घर की हद में बांधकर। सारी आजादी खुद चाहिए और सारी बंदिशे पत्नी के लिए हैं। मनमानी का अधिकार पति को और घर की इज्जत के लिए कुर्बानी पत्नी की! कितने दकियानूस है ये लोग यहां आकर भी, शायद और ज्यादा जितना कि भारत में होते।'' (बेनीवाल, २०१६, पृ. ३४)

इस प्रकार यात्रा अनुभव के साथ-साथ लेखिका के नारी-संबंधी विचार भी हमारे सामने आते हैं। नारी संबंधी उनके यह विचार नारी स्तिथि को समझने और उनके मार्ग में आने वाले संघर्षों से हमे वाकिफ करवाते हैं।

आत्मनिर्भरता यह यायावर का एक महत्वपूर्ण गुण है। एक सच्चा यायावर जब अपने आनंद के लिए यात्रा करता है तो वह किसी और पर आधारित होकर अपनी यात्राएं नहीं कर सकता हैं। अनुराधाजी स्वालंबी यात्रिक हैं। वह अपने पति के पैसों से देश और दुनिया नहीं घूमना चाहती हैं। यथा-

''अभी तक अपना खर्च खुद निकालती आई थी। एकदम से एक एक आदमी पर निर्भर हो जाना मुझे खटकने लगा था। कम-से-कम आधा किराया तो कमा ही लूँ। कुछ घर के खर्चों में हाथ बँटा दूँ। थोड़ा घूम-फिर पाऊँ, बस, इतना भी। पैसा जोड़ने-वोड़ने का तो ख्याल ही कहीं दूर था।" (बेनीवाल, २०१६, पृ. १५)

उपरोक्त कथनों में अनुराधाजी के आत्मनिर्भर यात्रिक के दर्शन स्पष्ट हो जाते है।

यायावरी वृति इस वृति के बिना किसी भी व्यक्ति की यात्रा थकने वाले अनुभव में परिवर्तित हो जाती है। जिन्हें यात्रा करना पसंद होता है वे यात्रा करने का कोई न कोई तरीका जरूर निकाल लेते हैं। एक यायावर अपनी यात्रा उत्सुकता को शांत करने के लिए किसी भी हद तक जा सकता है। यही बात अनुराधाजी में भी देखने को मिलती हैं। घूमने का चस्का उन्हें किसी भी प्रकार की नौकरी करने के लिए बाध्य कर देता है। यथा-

''काम मिलना तो जरूरी था। मांगे हुए पैसों से तो चाय पीना भी मुश्किल हो रहा था, घूमना फिरना तो दूर। बिना पैसे यूरोप कैसे घूमती, यहां तो लंदन घूमने दुभर हो रहा था। मेरा दिमाग दिन रात घूमने के नए-नए रास्ते तलाशता रहता- न्यूड मॉडल बन जाऊं चित्रकारों के लिए? स्पर्म तो डोनेट नहीं कर सकती, लेकिन किसी दवाई के एक्सपेरिमेंट का हिस्सा बन

जाऊं? रोज इवनिंग स्टैंडर्ड (फ्री अखबार) मैं छापे हर तरह के विज्ञापनों में से पैसे कमाने के तरीके वाले विज्ञापन अंडरलाइन करती। लंदन जैसे शहर में आकर भी अगर दुनिया नहीं घूम पाई तो भला यह सपना कब सच कर पाऊंगी?'' (बेनीवाल, २०१६, पृ. १५)

यायावर अपने साथ बहुत सुख-सुविधाओं की वस्तुएं लेकर नहीं चलता है। उसका मुख्य उदेश्य तो घूमना होता है। वह तो बस सीमित सामान के साथ निकल पड़ता है अपनी मंजिल की ओर। अनुराधाजी भी ऐसा ही करती हैं। यथा-

''झोले में डाली मैंने किताब, खाली डायरी, पेंसिल, मूंगफली, पानी और सनस्क्रीन. मूंगफली या चना- इनका साथ में रहना बहुत जरूरी है। यह मैंने राजस्थान घूमते वक्त जाना था। चना मूंगफली साथ में हो तो एक टाइम के खाने का समय बच जाता है। नहीं तो घूमो, फिर लंच की जगह ढूंढो, फिर खाने के बाद वापस आओ। और फिर पूरा पूरा लंच करने पर सुस्ती भी छा जाती है, चबेना ठीक रहता है। मैंने गूगल मैप से वरसाय का कच्चा-पक्का मैप कागज के एक टुकड़े पर उतारा, जूते पहने और टोपी लगाकर निकल पड़ी घर से।'' (बेनीवाल, २०१६, पृ. २८)

उनकी इस प्रकार की यायावरी को देखकर ही नामवर सिंहजी ने उनके विषय में लिखा है-

''हिन्दी साहित्य में अब तीन लेखकों के यात्रा-वृतांत मील के पत्थर साबित हुए हैं-राहुल सांकृत्यायन जिन्होंने 'घुमक्कड़शास्त्र' नाम की किताब ही लिख दी, अज्ञेय और फिर निर्मल वर्मा। इसी कड़ी में चौथा नाम अनुराधा का भी जुड़ रहा है।" (नामवर, २०१६)

एक सफल यायावर का गुण यह भी है कि वह स्थानिक गलियों को बारीकी से जानना चाहता है। यात्रा तो सब ही करते है। बड़े-बड़े टूर-पैकेज वाले आपको आसानी से सुख-सुविधाओं के साथ देश-भर की यात्रा करवा देता हैं। परंतु वास्तविक यायावर वही है जो अपने पैरों को शहर की गलियों से परिचित करवाए। अनुजी भी इस बात पर बल देती हैं-

''अगर टैक्सी, मेट्रो में ही साइट-सीइंग करनी है तो यू-ट्यूब पर भी शहर के वीडियो देख सकते हैं। अगर सही मायने में शहर देखना है तो चलना पड़ेगा। शहर को पैदल नापना पड़ेगा।" (बेनीवाल, २०१६, पृ. २९)

स्वानन्द किरकिरेजी भी अनुराधाजी को नए जमाने की भारतीय फकीरन कहते हैं। यथा-

''.....अनुराधा भटकती है, उसकी लेखनी नहीं। वह नए जमाने की नितांत भारतीय फकीरन है, फकीरन! शायद यह संबोधन उसे अच्छा लगे।" (किरकिरे)

मित्रवत् व्यवहार यह भी यायावर का एक जरूरी गुण हैं क्योंकि अकेले यात्रा करना आनंददायक तो है किन्तु उसके लिए यात्रा में मिलने वाले लोगों से, सह यात्रियों से मित्रता करनी पड़ती है। ताकि सफर को सरल और ज्ञानवर्धक बनाया जा सके। जिस जगह की यात्रा कर रहे है, वहाँ के स्थानिक लोगों से मित्रता करने पर ही वह लोग अपनी संस्कृति के विषय में खुले मन से बात कर सकते हैं। अनुजी इस कला में निपुण थी।

''एक तो मैं कहीं भी किसी से भी दोस्ती कर सकती हूँ। मुझे बड़ा मजा आता है, अलग-अलग देशों के लोगों से मिलने में।'' (बेनीवाल, २०१६, पृ. २६)

अनुराधाजी जिस किसी होटल आदि में रुक कर यात्रा नहीं करती थी, बल्कि वह पूरी कोशिश करती थी कि जिस जगह वह घूमने जा रही हैं वहाँ के लोकल लोगों के यहाँ रुके और उनके बारे में जाने।

जिज्ञासु होना एक सफल यायावर का आधारभूत गुण है। यात्रिक की जिज्ञासा ही उसे यात्रा के नए-नए स्थानों पर जाने की प्रेरणा देती है। अनुराधाजी ने विदेश जाने से पूर्व भारत में यात्राएं कर ली थी। लंदन पहुंच कर उनके मन में यह बात आती है कि लंदन के साथ पूरा यूरोप घूमा जाए-

''हालाकि लंदन ने मुझे काफी हद तक आजादी मिल गई थी, लेकिन अब मुझे यह जानना था कि लंदन ही स्पेशल है या पूरा यूरोप ऐसा है? क्या पश्चिम सच में आजादी के मामले में हमसे आगे निकल गया है? १७वीं -१८वीं शताब्दी के लेखकों, जैसे - जेन अह्स्टन, शार्लेट ब्रोंटे, एलिजाबेथ गास्केल या चार्ल्स डिकेन्स की किताबों में तो औरतों की स्थिति हमारे समाज से बेहतर नहीं थी। फिर उनका समाज किस कदर इतनी तेजी से बदला? कैसे एकदम से इतना आगे आ गया? और हम जैसे एक ही जगह अटक गए! आखिर उसे ऐसी क्या 'चीज' मिल गई? दुनिया का नक्शा अपने कमरे में देखकर रोज लगता है कि मैं अभी दुनिया के एकदम बीचो-बीच में हूं तो जल्दी से निकल लूं और उसे 'चीज' को तलाशूँ!'' (बेनीवाल, २०१६, पृ. २०)

संयमी होना यायावर के लिए अति आवश्यक है। एक थका हुआ यायावर कभी-कभी संयम से काम ना ले तो बढ़िया चीज से हाथ धो बैठता है। अपनी पुरानी यात्राओं से अनुराधाजी इस बात से भलीभाँति परिचित थी इसलिए अपनी यूरोप यात्रा में धैर्य बनाए रखती हैं, वे स्वयं पाठकों को समझते हुए कहती हैं-

''एक थके हुए मुसाफिर को होटल के इश्तहार में 'बेड' की तस्वीर ऐसी ही लगती है, जैसे भूखे को पकवानों की तस्वीर। एक बार मैंने अपनी छोटी-सी कार में जबलपुर से पुणे

तक सीधा ड्राइव किया तभी इस बात को समझ गई थी। भूख और नींद हमें बेसब्र बनाते हैं। लेकिन अगर उनको जज्ब करके हम दिमाग से कम ना ले तो धोखा होने की संभावना पूरी पूरी रहती है। कई बार बढ़िया चीज अगले ही मोड पर होती है, बस थोड़े संयम की जरूरत होती है।'' (बेनीवाल, २०१६, पृ. २६)

इस प्रकार कह सकते है कि अनुराधा बेनीवालजी एक निडर, बेफिक्र, आत्मनिर्भर, जिज्ञासु, बुद्धिमान अर्थात् सफल यायावर के गुणों से परिपूर्ण यायावर हैं। उनकी पुस्तक 'आजादी मेरा ब्रांड' महिला यात्रा साहित्य में मील का पत्थर है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. अनामिकाजी, (२०१६), आजादी मेरा ब्रांड, अनुराधा बेनीवाल, अंतिम मुख्य पृ.

२. अनुराधा बेनीवाल, (२०१६), आजादी मेरा ब्रांड, नई दिल्ली, सार्थक राजकमल प्रकाशन के उपक्रम से

३. किरकिरे, स. (n.d.) आजादी मेरा ब्रांड-अनुराधा बेनीवाल, अंतिम मुख्य पृ.-सार्थक राजकमल प्रकाशन के उपक्रम से

४. नामवर, स. (२०१६).आजादी मेरा ब्रांड,अनुराधा बेनीवाल, अंतिम मुख्य पृ., सार्थक राजकमल प्रकाशन के उपक्रम से.

५. 'आजादी मेरा ब्रांड'- अनुराधा बेनीवाल-राजकमल प्रकाशन-२०२२

६. हिन्दी का यात्रा-साहित्य (लेखक- विश्वमोहन तिवारी)

७. https://pustak-org/index.php/books/authorbooks/Anuradha%20Beniwal

८. https://rajkamalprakashan.com/author/anuradhabeniwal?srsltid=AfmBOoqYZmWzjI9CBZ17 wdKm17YHwn KJRMK2BPGriTL UmnGskT9DXs4RF

९. https://www-hindwi-org/tags/journey/yatra-vritaant
https://www-collegehelper-in/%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4% BE&%E0%A4%B5%E0%A5%83%E0%A4%A4%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%A4-%E0%A4%95%E0%A5%80&%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%B6%E0% A5%87%E0%A4%B7%E0%A4%A4/

१०. यात्रा साहित्य में महिलाओं की भूमिका, द्वारा डॉ. रीता गांगुली, हिंदी साहित्य पत्रिका, (२०१७)

११. 'महिला यात्रा साहित्य : एक सामाजिक दृष्टिकोण' द्वारा डॉ. नीलिमा शर्मा, सामाजिक विज्ञान पत्रिका, (२०१५)

१२. 'यात्रा साहित्य में स्त्री विमर्श' द्वारा डॉ. संगीता शर्मा, हिंदी साहित्य समीक्षा, (२०१९)
१३. 'महिला यात्रा साहित्य में स्त्री अस्मिता का अध्ययन' द्वारा डॉ. अनीता कुमारास्वामी, हिंदी साहित्य शोध पत्रिका (२०२०)
१४. 'यात्रा साहित्य में पर्यावरण चेतना' द्वारा डॉ. मधु किश्वर, साहित्य शोध पत्रिका, (२०२०)

-शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
गुजरात यूनिवर्सिटी, अहमदाबाद
मो०- ९६३८१३८७२१
Email id: gayatrikarapiya24@gmail-com

बौद्ध एवं जैन कला में निहित भारतीय सांस्कृतिक निरन्तरता के अध्ययन में वासुदेव शरण अग्रवाल का योगदान

–रविशंकर सिंह पटेल

बौद्ध एवं जैन कला भारतीय सांस्कृतिक विरासत का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा रही है, और इन दोनों धर्मों ने भारतीय कला और स्थापत्य पर गहरा प्रभाव डाला है। विभिन्न भारतीय सांस्कृतिक परम्पराएँ जैसे कि धार्मिक चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला और पूजा पद्धतियाँ इन धर्मों के माध्यम से निरन्तर विकसित होती रही हैं। बौद्ध धर्म ने भारतीय कला में नए आयाम जोड़े विशेष रूप से मठों और स्तूपों के निर्माण में, बौद्ध स्थापत्य में स्तूप, विहार और चैत्यगृह प्रमुख रूप से देखे जा सकते हैं इस कलामें बुद्ध की मूर्तियों का चित्रण, जैसा कि उनके जीवन दृश्य और समाधि मुद्रा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। इसी प्रकार जैन कला में भी भारतीय सांस्कृतिक निरन्तरता का आदान-प्रदान देखा जा सकता है। जैनधर्म में अहिंसा, तपस्या और आत्मज्ञान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। जैन कला में तीर्थंकरों की मूर्तियों का विशेष स्थान है, जो धार्मिक विचारों और भक्ति के प्रतीक हैं। हिन्दी एवं वैदिक साहित्य के प्रकांड विद्वान तथा कला मर्मज्ञ वासुदेव शरण अग्रवाल ने इन दोनों कलाओं में निहित भारतीय सांस्कृतिक निरन्तरता के अध्ययन का श्लाघनीय प्रयास किया है। जिससे इन कलाओं के महत्व को समझने में सहायता मिली है। उन्होंने अपने अध्ययन में स्तूप की प्राचीनता को बौद्ध धर्म से पहले स्वीकार किया है और उसके सांस्कृतिक निरन्तरता की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनके अनुसार भारतीय कला में स्तूप का सम्बन्ध प्रायः बौद्ध धर्म से माना जाता है। किन्तु यह उससे अधिक प्राचीन है। उनका मत है कि स्तूप की कल्पना सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' में पाई जाती है। जहाँ अग्नि की उठती हुई ज्वालाओं को स्तूप कहा गया है।

जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य शोचा बृहद्रयजतं धूममृण्वन।
उप स्पृश दिव्यं सानुः स्तूपैः सं रश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य।। (ऋग्वेद ७/२/१)

इसी प्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, ऋग्वेद में वृक्ष और स्तूप की भी तुलना

की गई है। वृक्ष का वितान (छतरी) के रूप में प्रतीकात्मक रूप से सन्दर्भित किया गया है, जो स्तूप के गोल आकार और संरचना के समान प्रतीत होता है। यह तुलना प्रतीकात्मक रूप से आध्यात्मिक और शारीरिक संरक्षण का प्रतीक हो सकती है, जैसे वृक्ष की छाँव और स्तूप की आन्तरिक शान्ति। इस प्रकार के प्रतीक ऋग्वेद में जीवन की शान्ति और सन्तुलन की ओर संकेत करते हैं, जो ध्यान और साधना की गहरी परम्परा से जुड़े हुए हैं।

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्व स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः।। (ऋग्वेद १/२४/७)

इसी प्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, ऋग्वेद में अंगिरस ऋषि के एक पुत्र का नाम हिरण्य स्तूप मिलता है। उनकी मान्यता के अनुसार, वैदिक कल्पना में सूर्य को हिरण्य स्तूप के रूप में देखा गया है, जिसकी सुनहरी किरणें चारों ओर स्तूप के आकार में फैली हुई हैं। अग्रवाल जी का कहना है कि स्वर्ण स्तूप की कल्पना जैन साहित्य में भी पाई जाती है, जहाँ मथुरा के प्राचीन जैन स्तूप को देव-निर्मित स्तूप माना गया है (अग्रवाल,२०१५ : १३२)। उनके अनुसार, असल में हिरण्य स्तूप का अर्थ विराट् प्राण तत्व से है, जिसमें 'हिरण्य' का अर्थ दिव्य प्राण है। अग्रवाल जीके विचार में, स्तूप का तादात्म्य महापुरुषों से जुड़ा हुआ था, जो बाद में महात्मा बुद्ध के सन्दर्भ में और भी स्पष्ट हुआ। बुद्ध अपने दिव्य प्रकाश के कारण महापुरुष (अग्नि-स्कन्ध) के रूप में माने गए थे, और इस कारण स्तूप के रूप में उनकी स्मृति और पूजा की जाने लगी (अग्रवाल, २०१५ : १३२)। वे मानते हैं कि स्तूप का विचार बाहरी प्रभाव से नहीं आया, बल्कि इसके निर्माण में प्राचीन भारतीय लोकधर्मों का योगदान था। अग्रवाल जी के अनुसार, स्तूपों पर जो यक्ष, नाग, गन्धर्व, कुम्भाण्ड, वृक्ष आदि के चित्र अंकित होते हैं, वे भारतीय लोकधर्मों और विश्वासों का प्रभाव दर्शाते हैं (अग्रवाल, २०१५ : १३६)। आज भी भारतीय गाँवों में डीह, बीर और ब्रह्म के रूप में स्तूपनुमा आकृतियों की पूजा होती है, जो लोकधर्म की निरन्तरता और उसकी गहरी जड़ों को प्रदर्शित करती हैं।

इस प्रकार, वासुदेव शरण अग्रवाल का यह विचार दर्शाता है कि स्तूप केवल एक धार्मिक संरचना नहीं, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति, धर्म और विश्वासों का गहरा प्रतीक है।वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, स्तूप महापुरुष के निर्वाण का शोक नहीं, बल्कि उसके भौतिक रूप में प्रकट होने और पूर्णआनन्द और ज्योति का प्रतीक है। उनके अनुसार, भरहुत और साँची के वेदिका स्तम्भों या तोरणों, तथा अमरावती और नागार्जुनकोण्ड की कंचुक शिलाओं या आच्छादन-पटों पर अंकित नृत्य और गीत के दृश्य, मानव हृदय की आनन्दपूर्ण वृत्तियों का प्रतिबिम्ब हैं। इन कलाओं के माध्यम से जीवन के पूर्ण आनन्द और दिव्यता की अभिव्यक्ति होती है, न कि केवल निर्वाण के शोक की (अग्रवाल, २०१५ : १३६)।

इसी प्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, स्तूप की वेदिका की मूल अवधारणा वैदिक परम्परा से जुड़ी हुई है। उनका कहना है कि यज्ञों के समय, वेदिस्थान के चारों ओर एक सीमा-सूचक वेष्टिनी बनाई जाती थी, जो बाद में यज्ञ-मण्डप या अग्निशाला के रूप में विकसित हुई। इसी परम्परा के आधार पर, समय के साथ चौत्यवृक्ष, आयागपट्ट, धार्मिक स्तम्भ, बोधिमण्ड और देवस्थान जैसी अन्य धार्मिक संरचनाओं के चारों ओर भी वेदिकाएँ बनाई जाने लगीं (अग्रवाल, २०१५ : १३३)।इस प्रकार, स्तूप की वेदिका का विकास वैदिक यज्ञों और धार्मिक क्रियाओं से जुड़ा था, जो धार्मिक स्थलों की पवित्रता को व्यक्त करने का एक महत्वपूर्ण तरीका बन गया।

वासुदेव शरण अग्रवाल ने बौद्ध कला और उसके धार्मिक प्रतीकों की व्याख्या करते हुए उन्हें भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों से जोड़ा है। उनके अनुसार, बौद्ध स्तूपों के तोरण द्वारों की संरचना स्वास्तिक के रूप में की गई है, जो चार दिशाओं की स्थिर सत्ता का प्रतीक हैं। यह न केवल बौद्ध धर्म, बल्कि लोकधर्म से भी जुड़ा हुआ है, जिसमें प्रत्येक दिशा की सुरक्षा एक विशेष देवता द्वारा की जाती है। उदाहरण के लिए, पूर्व में अग्नि, दक्षिण में इन्द्र, पश्चिम में वरुण और उत्तर में सोम देवता की पूजा की जाती थी (अग्रवाल, २०१५ : १४५)।

इसके अलावा, बौद्ध धर्म के प्रतीकों जैसे धर्मचक्र, स्तम्भ, पूर्णघट और चरण चिन्ह का सम्बन्ध वे वैदिक साहित्य से जोड़ते हैं। उनके अनुसार, ऋग्वेद में चक्र और स्तम्भ का उल्लेख किया गया है, और ये दोनों सूर्य के प्रतीक माने जाते हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल का मानना है कि भरहुत, साँची और अमरावती जैसी कला में इन प्रतीकों की पूजा के दृश्य अंकित हैं, जो भारतीय कला के प्राचीन प्रतीकों की परम्परा को दर्शाते हैं (अग्रवाल, २०१५ : १५२)।

बौद्ध कला में स्तूपों और चैत्यों पर पशुओं द्वारा पूजा का चित्रण भी मिलता है, जिसे वासुदेव शरण अग्रवाल बोधिसत्वों के प्रतीक के रूप में मानते हैं, जो बुद्धत्व प्राप्ति के लिए धार्मिक कार्यों में संलग्न होते हैं (अग्रवाल, २०१५ : १५२)। इसके अलावा वे बौद्ध कला में विभिन्न काल्पनिक पशु-जैसे मानव मुख सिंह, सपक्ष सिंह, सिंह-व्याल, सपक्ष-मृग, इहा मृग तथा सिंहमच्छ इत्यादि के अंकन का उल्लेख करते हैं, जो जम्बूद्वीप की कला परम्परा का प्रभाव दिखाते हैं (अग्रवाल, २०१५ : १६५)। इसीप्रकार भरहुत स्तूप के तोरण के बरेड़ियों पर बनी मगरमच्छ आकृतियों को वासुदेव शरण अग्रवाल शिंशुमार- शिरः की संज्ञा देते हैं और इसका सम्बन्ध 'महाभारत' के 'आदिपर्व' में वर्णित द्रौपदी स्वयंवर के लिए चयनित स्थान 'समाज-वाट' से करते हैं। उनके अनुसार समाज-वाट की रेलिंग को मगरमच्छ की आकृति से सजाया गया था, जिसका सिर मकर का एवं पूछ मछली की आकृति की थी। वे शिंशुमार को मकर का

पर्यायवाची मानते हैं और इसे मकरतोरण की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार भरहुत के अतिरिक्त मथुरा की कला में भी मकर तोरण प्राप्त होते हैं (अग्रवाल, २००३ : ६८-१०१)।

इसीप्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल वृक्ष पूजा को लोकसंस्कृति का अहम हिस्सा मानते हैं और इसे 'वृक्षमह' या 'रुक्खमह' के नाम से संबोधित करते हैं। उनका मानना है कि भारतीय साहित्य और कला में वृक्षों की पूजा और उनका देवता रूप में सम्मान सदियों से चला आ रहा है। आज भी लोक समाज में पीपल, नीम, वटवृक्ष, तुलसी और आँवला जैसे वृक्षों की पूजा की परम्परा प्रचलित है। प्राकृत साहित्य में इस पूजा को 'रुक्खमह' कहा गया है (अग्रवाल, १९६४ : ७६)। वासुदेव शरण अग्रवाल यह भी स्वीकार करते हैं कि बौद्ध स्तूपों पर अंकित वृक्षों पर लोकधर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उनके अनुसार, स्तूपों पर विभिन्न बोधिवृक्षों के प्रतीक अंकित हैं, जैसे कि पीपल (अश्वत्थ) गौतम बुद्ध का, वटवृक्ष काश्यप बुद्ध का, उदुम्बर (कनक मुनि बुद्ध), पाटलि (विपस्मिन् बुद्ध), शालवृक्ष (विश्वभू बुद्ध) और शिरीष (क्रकुच्छन्द बुद्ध) का बोधिवृक्ष प्रतीक है। यह अंकन प्राचीन वृक्ष पूजा की मान्यता और बौद्ध धर्म में इसकी स्वीकृति को दर्शाता है (अग्रवाल, २०१५ : १५०-१५१)। इस प्रकार वृक्ष पूजा की परम्परा ने अनादि काल से धर्मों के बीच निरन्तरता बनाए रखी है, जो पर्यावरण संरक्षण और पारिस्थितिकी तंत्र को सन्तुलित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

इसीप्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल ने बौद्ध स्तूप की संरचना और उसके विभिन्न अंगों की तुलना वैदिक वास्तुकला के तत्वों से की है। उनके अनुसार, बौद्ध स्तूप की रचना का मूल वैदिक सृष्टि विद्या की परम्पराओं में समाहित है। उन्होंने विभिन्न अंगों की तुलना इस प्रकार की-

(१) हर्मिका की तुलना वैदिक देव सदन से की है, जो देवताओं के विश्राम या पूजा स्थल होते थे।

(२) छत्रावली को वैदिक नाक पृष्ठ से जोड़ा गया है, जो छाँव या संरक्षण का प्रतीक है।

(३) यष्टि की तुलना बाण या उदुम्बर से की गई है, जो सीधा खड़ा और ऊँचा होता है।

(४) स्तम्भ की तुलना स्कम्भ से की है, जो शक्ति और स्थिरता का प्रतीक होता है।

(५) वेदिका और तोरण द्वार की तुलना यज्ञभूमि से की गई है, जो धार्मिक अनुष्ठानों के लिए समर्पित स्थल होते थे (अग्रवाल, २०१५ : १५८)।

अग्रवाल जीका यह दृष्टिकोण दर्शाता है कि बौद्ध स्तूप की स्थापत्य कला में वैदिक परम्पराओं का गहरा प्रभाव था और यह दोनों संस्कृतियों के बीच एक सांस्कृतिक और धार्मिक कड़ी का प्रतीक है।

इसीप्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल का मानना है कि बुद्ध की मूर्तियों में पाई जाने वाली विशेषताएँ प्राचीन भारतीय कल्पनाओं, जैसे योगियों और चक्रवर्ती सम्राटों के आदर्शों से प्रेरित हैं। उनके अनुसार, बुद्ध की मूर्तियों में दिखाई देने वाले तत्व, जैसे पद्मासन, नासाग्रदृष्टि, उष्णीश (उर्णा), भिक्षापात्र, प्रभामण्डल आदि, योगियों की ध्यान और साधना से जुड़े हैं। इसी प्रकार, बोधिसत्व मूर्तियों में जो ३२ महापुरुष लक्षण, शाही वस्त्र, आभूषण, छत्र और चामर ग्राही जैसी विशेषताएँ होती हैं, वे चक्रवर्ती सम्राट की छवि को दर्शाती हैं। इस प्रकार, बुद्ध की मूर्तियाँ केवल धार्मिक प्रतीक नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्पराओं का समग्र रूप हैं (अग्रवाल, २०१५ : ३४३)।

वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, शुरुआती बोधिसत्व मूर्तियाँ यक्ष मूर्तियों की कला शैली से प्रभावित थीं। उनका मानना है कि मथुरा की खड़ी बोधिसत्व प्रतिमा और सारनाथ से प्राप्त बोधिसत्व प्रतिमा दोनों ही मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से मथुरा के परखम यक्ष की उत्तराधिकार को प्रदर्शित करती हैं (अग्रवाल, १९६४ : २१)। सबसे पहले प्रसिद्ध कलाविद् आनन्द कुमारस्वामी ने यह सिद्ध किया था कि बुद्ध की मूर्तियों के निर्माण में यक्ष और यक्षिणियों की मूर्तियाँ एक प्रमुख प्रेरक शक्ति रही हैं (कुमारस्वामी, १९२७ : ४६-४८)। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, बुद्ध मूर्ति के आसन की पीठिका की प्रेरणा अशोक के सारनाथ सिंह-शीर्षक स्तम्भ से प्राप्त हुई है (अग्रवाल, २००३ : १२३)।

इसीप्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, जैन कला में सर्वप्रथम आयागपट्टों का महत्व है। उनका मानना है कि ये आयागपट्ट पूजा-शिलाएँ थीं, जिनकी परम्परा पहले से ही अस्तित्व में थी। जैनों ने इन्हें अपने स्तूपों में सुन्दर तरीके से स्थापित कियाऔर इनके रूप-संस्कार में अत्यन्त मौलिकता दिखाई (अग्रवाल, २०१५ : २३८)। आयागपट्ट एक सजावटी पाषाण शिला होती है, जिसका उपयोग जैन पूजा में किया जाता था। इन शिलाओं पर आमतौर पर जैन तीर्थंकरों के चित्र, उनके प्रतीक और अन्य धार्मिक चिह्न उकेरे जाते थे। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, जैन स्तूप के आयागपट्ट और बौद्ध स्तूप के आयकमंच (जो आंध्रप्रदेश के नागार्जुनकोण्ड स्तूप से प्राप्त हुआ है) में समानता पाई जाती है। वे मानते हैं कि 'आयाग' शब्द संस्कृत के 'आर्यक' से उत्पन्न है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'आयक' है। उनके अनुसार, स्तूप के चारों ओर ऐसी पूजा शिलाएँ या आयागपट्ट स्थापित किए जाते थे, जिनकी पूजा की जाती थी। अग्रवाल जी के अनुसार, शुंग काल में नारायणवाटक में संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए ऐसी रक्षा शिलाएँ स्थापित की गई थीं, जिससे इस परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। उनके अनुसार, कालान्तर में इन वेदिकाओं या पट्टों को प्रतिमाओं के आसन के रूप में स्वीकार किया गया (अग्रवाल, २०१५ : २३८)।

इसीप्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि, जैन मूर्तिकला लोकव्यापी आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थी। उनके अनुसार, तीर्थंकर मूर्तियों के निर्माण में यक्ष पूजा का प्रभाव देखा गया, और हर तीर्थंकर के साथ एक यक्ष और एक यक्षणी का सम्बन्ध जोड़ा गया। इसके अतिरिक्त, तीर्थंकरों की मूर्तियों में मानवीय गुणों के बजाय दिव्य या ऊँचे लक्षणों को प्राथमिकता दी गई (अग्रवाल, २०१५ : ३४२)।

जैन धर्म के अलावा, यक्ष और यक्षिणी का अत्यधिक महत्व बौद्ध और ब्राह्मण धर्म में भी था। इन धर्मों ने भी अपनी कला में यक्ष और यक्षिणियों को स्थान दिया। इस प्रकार, यक्ष और यक्षिणी का चित्रण केवल जैन मूर्तिकला तक सीमित नहीं था, बल्कि यह अन्य धर्मों की कला और संस्कृति में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यह प्रतीक धार्मिक आस्था के साथ-साथ समाज और संस्कृति के गहरे सम्बन्ध को भी व्यक्त करते थे।

इसीप्रकार वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने ग्रंथ 'मथुरा म्यूजियम कैटलॉग' में कुषाणकालीन नेमिनाथ की एक प्रतिमा का उल्लेख किया है, जो मथुरा संग्रहालय में स्थित है। यह प्रतिमा खण्डित अवस्था में है, और इसके नीचे के भाग का हिस्सा गायब है। प्रतिमा में नेमिनाथ के बाएँ पार्श्व में विष्णु तथादाएँ पार्श्व में बलराम की चतुर्भुज आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं (अग्रवाल, १९६३ : १६)। आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव और शान्ति स्वरूप सिन्हा के अनुसार, वासुदेव शरण अग्रवाल ने मथुरा में भागवत धर्म के प्रभाव को रेखांकित किया है, साथ ही नेमिनाथ की प्रतिमाओं में कृष्ण और बलराम के रूप में भागवत सम्प्रदाय के प्रमुख देवताओं के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। जो भारतीय सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रदर्शित करती है। इस तथ्यों की पुष्टि के लिए उन्होंने 'हरिवंशपुराण' और 'कल्पसूत्र' से साहित्यिक साक्ष्य भी प्रस्तुत किए हैं, जिनके आधार पर देवगढ़ एवं अन्य स्थानों की कुछ तीर्थंकर मूर्तियों की पहचान बलराम और कृष्ण की आकृतियों के आधार पर नेमिनाथ से की जा सकी है (श्रीवास्तव एवं सिन्हा, २००७ : २०२)।

तीर्थंकरों के अतिरिक्त मथुरा से प्राप्त अन्य जैनमूर्तियों में भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान को वासुदेवशरण अग्रवाल ने रेखांकित किया है जैसे नैगमेश मूर्ति। नैगमेश को वासुदेव शरण अग्रवाल बाल जन्म का अधिष्ठाता देवता मानते हैं। यह देवता बकरे के सिर वाले पुरुष रूप में था, जिसे नैगमेय कहा जाता था और जो कार्तिकेय परिवार का सदस्य था (अग्रवाल, १९३७ : ७५-७९)। इस देवता का सबसे पहला उल्लेख श्री कृष्ण के जन्म के संदर्भ में 'हरिवंशपुराण', 'उत्तरपुराण', 'नेमिनाथ चरित्र' और हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र जैसे ग्रंथों में हुआ है (जैन, २००२ : ७)।

अतः हम कह सकते हैं कि वासुदेव शरण अग्रवाल का यह जैनकला एवं बौद्धकला का अध्ययन अत्यन्त सराहनीय है, जो भारतीय कला और संस्कृति के गहरे और निरन्तर सम्बन्धों को समझने में महत्वपूर्ण कदम साबित होता है। उनके शोध ने हमें यह एहसास दिलाया है कि कला केवल बाहरी आभूषण नहीं, बल्कि एक समृद्ध सांस्कृतिक और धार्मिक परम्परा का हिस्सा है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित होती रही है। उनका कार्य यह दर्शाता है कि भारतीय कला न केवल सौन्दर्य और भव्यता का प्रतीक है, बल्कि यह हमारी सांस्कृतिक पहचान और धार्मिक धारा का अभिन्न अंग है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. अग्रवाल, वासुदेवशरण, २०१५ (पुनर्मुद्रित), भारतीयकला, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी
२. अग्रवाल, वासुदेवशरण, २००३ (पुनर्मुद्रित), स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणासी
३. अग्रवाल, वासुदेवशरण, १९६४, प्राचीन भारतीय लोकधर्म, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद
४. अग्रवाल, वासुदेवशरण, १९६४, मथुरा कला, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद
५. कुमारस्वामी, आनन्द, १९२७, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, लंदन
६. अग्रवाल, वासुदेवशरण, १९६३, 'जैनतीर्थंक राज एण्ड अदर मिसलेनियस फिगर्स', मथुरा म्यूजियम कैटलॉग, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी
७. श्रीवास्तव, आनन्दप्रकाश एवं सिन्हा, शान्तिस्वरूप, २००७, 'जैन कला के अध्ययन में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का योगदान', सात्वतार्चन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणासी
८. अग्रवाल, वासुदेवशरण, १९३७, 'द प्रेसाइडिंग डायटी ऑफ चाइल्ड बर्थ अमाँगस्ट द एनसिएण्ट जैनाज विथ स्पेशल रिफरेन्स टू फिगर्स इन द मथुरा म्यूजियम', जैनएण्टिक्वेरी, २, भाग ४, द सेण्ट्रल जैन ओरिएण्टल लाइब्रेरी, आरा बिहार
९. जैन, ज्योतिप्रसाद, २००२, 'मथुरा की नैगमेश मूर्तियाँ और कृष्णजन्म', शोधादर्श, भाग ४८, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ

-शोध-छात्र

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरात्तत्व-विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

ई-मेल- ravishankarsinghpatel@gmail-com

मो०- ८४०००५४५८१

⊙

सनातन संस्कृति और श्रीरामचरितमानस

–आकाश शंकर

'सनातन संस्कृति' मानवता की संस्कृति है, जिसका लक्ष्य मानव और मानवेत्तर प्राणियों का कल्याण है। यह केवल शास्त्रीय आचार संहिता नहीं है, अपितु संपूर्ण सृष्टि को शास्त्रीय विधि-निषेध-प्रतिषेध की सैद्धांतिक मान्यताओं के आधार पर सुचारू रूप से चलाने वाली आधारशिला है। मानव जीवन की समृद्धि के प्रत्येक प्रकल्प पर अनादि काल से सनातनियों ने चिंतन किया है। सनातन संस्कृति एक ईश्वरीय वरदान है, जो जीवन की संहिताओं का एकीकृत स्वरूप है। यह विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है, जिसका आधार श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास का लौकिक एवं पारलौकिक चिंतन है। जैन, बौद्ध, सिख सभी सनातन संस्कृति के ही अंग हैं। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक आदि इसके अचार संहिताओं के निर्माता हैं। रामायण और महाभारत इसके पथ प्रदर्शक हैं। दार्शनिक मत इसे जीवन-जगत् के रहस्यों के व्याख्यान की शक्ति प्रदान करते हैं तथा षड्दर्शन आदि सनातन संस्कृति की बौद्धिक चिंतनशीलता को परिष्कृत करते हैं। ज्ञान-कर्म-भक्ति इन तीनों से समन्वित वैचारिकी ही सनातनता की क्रियाशक्ति है।

'सनातन' शब्द का अनुशीलन करने पर उसमें कर्मधारय समास की व्याप्ति सिद्ध होती है। जिसके अनुसार 'सनातन' का अर्थ है- ''सना भवः सनातनः, सनातनं करोति इति सनातनयति, सनातनयतीति सनातनः''[१] 'सनातनयति' की व्याख्या ''सनातन स्वरूपं प्रापयति''[२] के रूप में की जाती है, अर्थात् जो हम लोगों को शाश्वत (सनातन) बनाता है। अनेक धर्मग्रन्थों में 'सनातन' शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में नित्य नवीन सर्वव्यापक परमात्मा को सनातन कहा गया है- ''सनातनमेनमाहुरुताऽद्यस्यात्पुनर्णवः''[३] मनु महाराज के अनुसार, जो अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म और अव्यक्त है, वह 'सनातन' है- ''योऽसौ अतीन्द्रियाग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तःसनातनः''[४] गीता में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण को 'सनातन पुरुष' कहा है-''सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे''[५] इस संदर्भों से स्पष्ट है कि सनातन निश्चित रूप से शाश्वतता का द्योतक है। जो नित्य, शाश्वत, रूप है। अनादिकालीन है। प्रलयकाल में भी, जो अव्यक्त तथा अगोचर के रूप में विद्यमान रहता है अर्थात जिसकी सत्ता नष्ट नहीं होती। महासर्ग के प्रारंभ में, जो स्वतः प्रादुर्भूत होता है, वही 'सनातन' है। ये समस्त गुण ईश्वर में विद्यमान है। इसलिए वह भी सनातन है। -'सनातन सर्वेश्वर'

मानव के लौकिक एवं पारलौकिक पुनरुत्थान की यात्रा में सहायक जीवनी शक्ति का नाम 'संस्कृति' है। यह मानव के भूत, भविष्य और वर्तमान का पूर्ण विकसित रूप है। इसमें शिष्टता एवं सौजन्य का भाव अंतर्निहित होता है। इसका लक्ष्य जीवन को चरमोत्कर्ष प्रदान करना है। यह मनुष्य जीवन के उत्तमोत्तम तत्वों को प्रकाशित करने वाली संपदा है। संस्कृति मानव के आदर्श जीवन का मानक निर्धारित करती है। यह समाज में रहने वाले लोगों की सामाजिक विशेषताओं का संचित प्रतिबिंब है। संस्कृति, समाज के सदस्यों में अंतर्निहित सामाजिक एवं मानवीय दृष्टिकोणों तथा विचार-सरणियों का प्रतिनिधित्व करती है। मूलतः यह मानव व्यवहारों को नियंत्रित करने वाली व्यवहार पद्धति है, जिसे मनुष्य अपने जन्मस्थल, परिवार-परिवेश, समाज एवं राष्ट्र से सीखता है। संस्कृति भी आनुवंशिकता की भाँति ही एक सतत् प्रक्रिया है। इसे जीवन शैली के रूप में भी परिभाषित कर सकते हैं, क्योंकि यह मानव के विभिन्न व्यवहार पद्धतियों, गतिविधियों, वैचारिक मूल्यों, चिंतन दृष्टिकोणों का सम्मिलित स्वरूप है। यह मानव जीवन की सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है। विष्णु प्रभाकर के अनुसार- ''संस्कृति मनुष्य के सृजनात्मक शक्तियों का वह पुंजीभूत स्वरूप है, जो उसे पशुत्व से ऊपर उठाता है। उनकी चेतना और उसके व्यवहार को संस्कार देता है। संस्कृति मनुष्य की बौद्धिक और नैतिक अवधारणाओं को प्रमाणित ही नहीं करती, उनका निर्माण भी करती है।''[६] यह एक साझी विरासत है, जो समय के साथ विकसित होती है। इसे व्यक्तिगत प्रयासों से, घटना विशेष के माध्यम से निर्मित, विकसित और स्थापित किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि 'संस्कृति' मानव जीवन के प्रत्येक पक्षों को समाहित करने वाली विराट अवधारणा है और जब इसके साथ 'सनातन' शब्द का योग हो जाता है, तो यह अवधारणा असीम अर्थसम्पन्न हो जाती है। सर्वप्रथम यजुर्वेद में 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' उद्धृत है।[७] अर्थात् विश्वमानव द्वारा वरण करने योग्य यह पहली सर्वोत्कृष्ट संस्कृति है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि विश्व की पहली संस्कृति 'सनातन संस्कृति' है। सनातन संस्कृति संपूर्ण विश्व का उन्नयन करने वाली है। यह एकमात्र ईश्वरीय संस्कृति है, जो ईश्वर द्वारा विनिःसृत और उपदिष्ट है। सनातन संस्कृति कालजयी संस्कृति है। इसके मार्गदर्शक आप्तकाम, परम निष्काम हैं। उनमें कोरी भावुकता और अविवेक का अभाव है। अपनी दूरदर्शी दृष्टि से उन्होंने जीवन के लिए एक ऐसी पद्धति प्रस्तुत की है, जो रागमूलक, द्वेषमूलक न होकर तर्क, तथ्य एवं वैज्ञानिकता से युक्त है। सनातनियों का चिंतन लोभ-लाभ और स्वार्थलोलुपता से विर्निमुक्त है। सनातन संस्कृति सनातनियों के अदम्य-दुर्दम जिजीविषा का परिणाम है। यह आज तक इसलिए स्थायी है क्योंकि इसमें गतिशीलता और परिवर्तन की भावना विद्यमान है। इनके अभाव में अनेक रूढ़िवादी गतिहीन संस्कृति, सनातन संस्कृति के सामने ही अस्तित्वविहीन हो

गई। यह संस्कृति अपनी उत्कट जीवनी शक्ति के कारण, वृथा मोहों का त्याग कर, संघर्ष करते हुए, ग्रहण-वर्जन की प्रक्रिया को आत्मसात् करते हुए, आगे बढ़ रही है। सनातन सिद्धांत दार्शनिक एवं वैज्ञानिक धरातल पर पूर्णतः प्रतिष्ठित है। आर्ष परंपरा का यह ज्ञान न केवल भारतीयों को एकजुट करने में सक्षम है, अपितु इसका सार्वभौमिक स्वरूप संपूर्ण विश्व को एकता के सूत्र में बांधने में सामर्थवान् है।

वेदादिशास्त्रसम्मत षोडश संस्कारयुक्त, वर्णाश्रमव्यवस्था संपन्न समाज ही सनातन संस्कृति की प्रतिकृति है। अवतारवाद- कर्मवाद पर विश्वास, यम-नियम के प्रति आस्था, तप, परोपकार, अहिंसा एवं सर्वत्र ईश्वर की उपस्थिति को स्वीकार करना सनातन संस्कृति का अनिवार्य अंग है। गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरितमानस में सनातन संस्कृति के मूलभूत तत्वों का सन्निवेश कर, मानस को सनातन आस्था का प्रतीक बना दिया है।

शास्त्रसम्मत सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था के निमित्त, सनातनी मनीषियों ने आर्ष ग्रन्थों में वर्ण चतुष्टय एवं आश्रम चतुष्टय का विधान किया है। वर्णाश्रम व्यवस्था में प्रत्येक प्राणी का अधिकार और कर्तव्य पूर्व से ही निश्चित होता है, ताकि व्यक्ति अपने-अपने कार्यों का निर्वाह कर आदर्श समाज निर्मित कर सके। गोस्वामी जी के हृदय में वर्णाश्रम धर्म की सुंदर संकल्पना विद्यमान थी। विदित है कि तुलसीकालीन समाज में शास्त्रीय मर्यादाएँ पूर्णतः नष्ट हो चुकी थी। चारों वर्ण कर्तव्यच्युत हो गए थे। सर्वत्र अत्याचार, अनाचार व स्वेच्छाचार व्याप्त हो गया था। तुलसीदास ने ऐसे अमर्यादित और विघटित समाज की कटु आलोचना की एवं वेदविहित वर्णाश्रम व्यवस्था की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए, उसे सुख का कारक बताया-

''बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग।।''[८]

संस्कार संस्कृति को जीवित रखने का माध्यम है। यह आर्ष परंपरा की वह निधि है, जो पीढ़ीगत हस्तांतरित होती है। संस्कार मानव जीवन को जन्म से मरण तक अनुशासित करते हैं। हमारी संस्कृति मनुष्य को षोडश संस्कार की परिधि में आबद्ध कर, उसके दिव्य व्यक्तित्व का निर्माण करती है। तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में इन संस्कारों को विशेष महत्व दिया है। प्रायः प्रत्येक संस्कारों की महत्ता को रेखांकित करने के उद्देश्य से, उन्होंने सुंदर कथानकों की योजना की है। गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि तक की क्रियाएं मानस में वर्णित है। समीक्षकों का मत है कि गोस्वामी जी ने मानस में नौ संस्कारों का ही प्रत्यक्ष रूप से वर्णन किया है, किंतु विचारपूर्वक देखें तो अप्रत्यक्ष रूप से समस्त षोडश संस्कार मानस में उपस्थित हैं।

हमारी संस्कृति धर्मप्राण संस्कृति है। शास्त्रों में सत्य, क्षमा, दम, शौच, धृति, धी, विद्या, अस्तेय, अक्रोध तथा इंद्रिय निग्रह को धर्म के लक्षणों के रूप में ख्यापित किया गया है। धर्म के ये लक्षण मानव के उत्कर्ष के कारक हैं। महर्षि पतंजलि ने भी मानव जीवन को संयमित-अनुशासित और ईश्वरोन्मुख बनाने की दृष्टि से यम-नियम का विधान किया है-

''अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।।
शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।''[६]

वस्तुतः इन्हीं यम-नियमों का आश्रय लेकर मानव सांसारिक प्रवृत्तियों से निवृत्ति तक की यात्रा कर, परमतत्व को प्राप्त करता है। यम-नियम से संपन्न धर्माचरण को गोस्वामी जी भक्ति के लिए अत्यंत आवश्यक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि यम-नियमादि से अनुशासित जीव ही धर्माचरणों के फलस्वरूप प्रभुपद की प्रीति को प्राप्त करता है-

''भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना।।
सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना।।''[१०]

अवतारवाद सनातन संस्कृति की सार्वभौमिक संकल्पना है। ईश्वर का अवतार धर्म-आदर्शों की स्थापना तथा आर्तजनों के उद्धार के निमित्त होता है। अवतार के माध्यम से सनातन सर्वेश्वर के नाम, रूप, लीला, गुण व धाम तक भक्तों की सहज गति होती है। प्रभु विविध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अवतरित होते हैं। उनका आचरण संपूर्ण समाज को प्रभावित कर धर्म एवं आदर्श की स्थापना करता है। मर्यादित आचरण के कारण ही राम मनुष्य से ईश्वर हो गए। स्वयं वाल्मीकि का मत है कि राम का अवतार केवल राक्षसों के वध के लिए नहीं हुआ था, अपितु उसका लक्ष्य मानव को धर्म की शिक्षा प्रदान करना भी था। गोस्वामी तुलसीदास का मानस, राम के लीलागान का विराट साहित्य है। उन्होंने राम को भक्तवत्सल, शरणदाता, आदर्शवादी, मर्यादापुरुषोत्तम, धर्मपालक के रूप में चित्रित किया है। उनके राम भक्तों का उद्धार करते हुए, एक ऐसे आदर्श की स्थापना करते हैं, जिसकी समता कोई नहीं कर सकता। गोस्वामी जी रामावतार के अनेक कारण मानते हैं-

''राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका।।''[११]

तुलसीदास के अनुसार पृथ्वी, गाय, देव, ब्राह्मण के हित के लिए, कश्यप-अदिति और मनु-शतरूपा को दिए गए वरदान, सनकादि ऋषियों के द्वारा जय-विजय को दिए गए शाप तथा नारद द्वारा नारायण को शापित किए जाने के कारण राम का अवतार हुआ।

ईश्वरोन्मुख संस्कृति होने के पश्चात् भी सनातन संस्कृति में कर्म को विशेष महत्व दिया गया है। भक्ति-ज्ञान- वैराग्य का प्रवर्तन करनेवाली, यह संस्कृति व्यक्ति को कर्मयोगी बनती है, न कि पलायनवादी-अकर्मण्य। कर्म का अनिवार्य संबंध फल से है। यह एक शाश्वत और

सार्वभौमिक नियम है। कर्म की गति इहलोक तथा परलोक दोनों में है। यह अदृष्ट, अपूर्व, आश्रव और अविज्ञप्त है। ईश्वर जीवों के कर्मानुरूप ही उन्हें विविध योनियों में जन्म प्रदान करते हैं। उनके प्रारब्ध को निर्धारित करते हैं। यह सृष्टि कर्म प्रधान है। यहां मनुष्य को उसके द्वारा किए गए कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। कर्म और कर्म फल के इस सिद्धांत से गोस्वामी जी की पूर्ण सहमति है-

"करम प्रधान बिस्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।।" [१२]

गोस्वामी जी ने मानस में परोपकार और अहिंसा पर विशेष बल दिया है। उन्होंने परोपकार और हिंसा को वेद शास्त्र सम्मत धर्म की संज्ञा दी है। विदित है कि मनसा-वाचा-कर्मणा से दूसरों का हित करना परोपकार की श्रेणी में आता है। सूर्य, चंद्र, वायु, नदी, पशु, पक्षी, वृक्ष, आदि निरंतर निस्वार्थ भाव से परहित के कार्य में संलग्न रहते हैं। परहित के कार्य में संलग्न मानव ही सच्चा मानव है। सच्चा परोपकारी व्यक्ति प्रतिफल की भावना के बिना परोपकार का कार्य करता है। तुलसी के अनुसार परोपकार की भांति कोई धर्म नहीं है और परपीड़न की भांति कोई अधर्म नहीं हैं-

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई।।" [१३]

स्पष्ट है कि मनुष्य बनने के लिए परदुख कातरता का भाव आवश्यक है। परोपकार की भांति ही अहिंसा भी मनुष्यता का अनिवार्य गुण है। धर्म के लक्षणों में, यम-नियमों में सर्वप्रथम अहिंसा का ही उल्लेख है। अहिंसा का संबंध केवल शारीरिक हिंसा से नहीं है, अपितु सभी प्राणियों के प्रति अपने मन में व्याप्त समस्त द्रोहों का शमन करना ही अहिंसा है। अर्थात् मन, वचन, कर्म, शरीर, वाणी इत्यादि से भी किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचाना ही वास्तविक अहिंसा है। इसलिए वेदों में इसे परमधर्म कहा गया है-"परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।"[१४] अहिंसा को अप्रतिष्ठित करने का एकमात्र साधन प्रेम है। यह जीवन का व्यावहारिक दर्शन और मानवता का कारक तत्व है। प्रेम में ईश्वर की भांति वशीकरण की शक्ति है, इसलिए प्रेम ईश्वरीय है और ईश्वर को अत्यंत प्रिय भी है। वनवासी राम के पास धनुष-बाण थे, जो हिंसा का प्रतीक है। फिर भी उन्होंने ने प्रेममय कोमल वचनों के द्वारा संपूर्ण वनचरों को अपने पक्ष में कर लिया-

"रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा।।
राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे।।" [१५]

सनातन संस्कृति शाश्वत संस्कृति है। इसके संरक्षक भगवान स्वयं हैं। हमारे धर्मग्रंथों में उसे ब्रह्म, परब्रह्म, ईश्वर, सर्वेश्वर, राम, कृष्ण, शिव, हरि आदि नामों से संबोधित किया गया है। संबोधन चाहे जो भी हो, परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि वह इंद्रियातीत है। संपूर्ण जगत् उसका

ही विवर्त है। उसकी ही कृति है एवं उससे ही व्याप्त है, जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। सनातन शास्त्रों में ईश्वर को सर्वव्यापी बताया गया है, गोस्वामी जी भी इस सत्य का समर्थन करते हैं-

"हरि व्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।।
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।।" [१६]

तुलसीदास के राम नित्य और अविकारी हैं। वे ज्ञान रूप तथा चौतन्य है। उनके अविनाशी राम ब्रह्मांड के सर्जक, संचालक एवं संहारक हैं। वह सर्वत्र हैं, सर्वव्यापी हैं, कालातीत हैं, अपरिवर्तनीय एवं पूर्ण हैं। उनका विराट व्यक्तित्व जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्तावस्था से परे है। जीवात्मा में जो शुद्ध चौतन्य तत्व प्रकाशित हो रहा है, उसमें राम की ही विराट सत्ता का प्रकाश है। राम धर्म के साकार विग्रह हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सनातन संस्कृति की परिकल्पना अत्यंत विशद है। यह संस्कृति सबके हितों को सुरक्षित रखकर वेदादिशास्त्रसम्मत विधा से सबके विकास की कामना करती है।हमारी संस्कृति में धर्म एवं आध्यात्म का अद्‌भुत समन्वय है। विदित है कि धर्म जीवन जगत् को व्यवस्थित करने वाले साधनों का विज्ञान है तथा आध्यात्म जीवन-जगत् के धारक तत्वों का विज्ञान है। अपनी शाश्वतता के कारण यह न केवल, हमारे जन्म से लेकर मृत्यु तक के क्रियाकलापों में व्याप्त रहता है, अपितु हम जन्म के पूर्व से और मृत्यु के पश्चात् भी, इसकी परिसीमा में रहते हैं। यह जन्म-मृत्यु के रहस्यों को उद्‌घाटित करता है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की संकल्पना से असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृतत्व की ओर, गमन कर ष्सर्वे भवन्तु सुखिनः[१८] की भावना को व्यक्त करना सनातन संस्कृति की निसर्गसिद्ध विशेषता है। तामसिक से राजसिक, राजसिक से सात्विक और पुनः सात्विक से गुणातीत करने की विधा हमारी अन्यतम् उपलब्धि है। इसका ध्येय सबके लिए उद्धार और विकास का मार्ग प्रशस्त कर मानव के तमस-कलुष्य गर्हित मनोभावों का मनोवैज्ञानिक पद्धति से शोधन कर, उसे लोकोपकारी बनाना है। गोस्वामी तुलसीदास ने सनातन संस्कृति की इसी विराट संकल्पना को श्रीरामचरितमानस में अवतरित किया है। उन्होंने वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था, संस्कार, अवतारवाद, कर्मवाद, धर्म-वैराग्य, ज्ञान-भक्ति, गौ, देव, ब्राह्मण आदि सनातनी मानबिंदुओं पर विशेष रूप से विचार किया है। गोस्वामी जी ने लोकभाषा में शास्त्रानुमोदित धर्म और धर्मानुमोदित जीवन की शिक्षा देकर, मानव के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने राम के आदर्श चरित्र को प्रस्तुत कर, पूरे युग को धर्म और आदर्श की शिक्षा दी है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण तुलसीदास की श्रीरामचरितमानस सनातन संस्कृति का पर्याय बन चुका है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. तीर्थ, भारतीकृष्ण, सनातन धर्म, स्वस्ति प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण : २००६, पृ.सं.-५३
२. उपरोक्त, पृ.सं.-५२
३. आचार्य, श्रीराम शर्मा (व्याख्या.), अथर्ववेद संहिता, ब्रह्मवर्चस, शांतिकुंज, हरिद्वार, षष्ठ संस्करण : २००२, पृ.सं.-४३६
४. कश्यप, केशव किशोर(संपा.), मनुस्मृति, चौखंबा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण : २००७, पृ.सं.-११
५. रामसुखदास (टीका.), श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, पंचानबेवाँ संस्करण : २०१८, पृ. सं.-७५६
६. प्रभाकर, विष्णु, संस्कृति क्या है?,सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण : २०१२, पृ.सं. २०१२
७. व्यास, रेखा (व्याख्या.), यजुर्वेद, संस्कृति साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करणः २०१५, पृ.सं.-२८
८. पोद्दार, हनुमानप्रसाद (टीका.), श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, एक सौ चालीसवाँ संस्करण : २०२३, पृ.सं.-८५३
९. आयंगार, बी.के.एस. (व्याख्या.), पतंजलि योग सूत्र, प्रभात प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, संस्करण : २०१६, पृ.सं.-३५
१०. पोद्दार, हनुमानप्रसाद (टीका.), श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, एक सौ चालीसवाँ संस्करण : २०२३, पृ.सं.-४१
११. उपरोक्त, पृ.सं.-११०
१२. उपरोक्त, पृ.सं.-४७६
१३. उपरोक्त, पृ.सं.-८७१
१४. उपरोक्त, पृ.सं.-६५३
१५. उपरोक्त, पृ.सं.-४१५
१६. उपरोक्त, पृ.सं.-१५६

-शोधार्थी
हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
संपर्क सूत्र- ६५३४६४८७४२
Email : mrakashshankar@gmail-com

⊙

नब्बे के दशक की हिन्दी कहानियों में वर्णित साम्प्रदायिकता का स्वरूप

–अभिषेक कुमार यादव एवं डॉ० बीना यादव

नब्बें के दशक की हिन्दी कहानियाँ विविध विषय वस्तु को लेकर लिखी गयी हैं। कुछ कहानियाँ बाबरी विध्वंस को आधार बनाकर लिखी गयी, तो कुछ हिन्दू-मुस्लिम, हिन्दू-सिख दंगों की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी। इसके साथ कुछ कहानियाँ हिन्दू-इसाई एवं हिन्दू-दलित साम्प्रदायिकता से संबंधित है। बहुत सी कहानियाँ ऐसी भी हैं जिसमें हिन्दुत्व का हौआ कैसे खड़ा हुआ मानवीय पीड़ा का कोरस कौन सा रहा आदि का चित्रण है।

बीज शब्द-हिन्दी कहानी, सम्प्रदाय, साम्प्रदायिक, साम्प्रदायिकता, समरसता, सहिष्णुता, संस्कृतियों का मानवीय सारत्व, भारतीय नवजागरण, धर्मनिरपेक्ष, उग्र साम्प्रदायिकता, धार्मिक उन्माद, असहिष्णुता, देशिक एवं वैश्विक आतंकवाद।

नब्बें के दशक की हिन्दी कहानियों में वर्णित साम्प्रदायिकता के स्वरूप को देखने-समझने से पहले यह जानना अति आवश्यक है कि साम्प्रदायिकता शब्द की निर्मिति कैसे हुई और इसकी शुरुआत कहाँ से होती है? डॉ० वासुदेव नंदन प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना' में लिखते हैं, साम्प्रदायिकता शब्द भाववाचक संज्ञा है, सम्प्रदाय विशेष्य शब्द और साम्प्रदायिक विशेषण शब्द है''[१] अंग्रेजी में साम्प्रदायिकता को कम्यूनिलिज्म Communalism का पर्याय माना जाता है। इसका ऐतिहासिक जन्म, ''फ्रांस में स्थापित कम्यून से हुआ, जिसके मातहत एक वर्ग के लोग विशेष स्थान पर रहने के कारण संगठित रूप में निजी मिले-जुले प्रयासों से उत्पादन एवं विकास की प्रक्रिया चलाकर अपना भरण-पोषण एवं प्रशासनिक संगठन चलाते थे।''[२] यदि संक्षेप में कहें तो यह एक सामूहिक प्रक्रिया थी, किन्तु धीरे-धीरे इसका शास्त्रीय अर्थ शस्त्रीय बन गया एवं इस विचारधारा को एक वर्ग, धर्म व सम्प्रदाय के विरुद्ध हिंसक रूप से प्रस्तुत किया जाने लगा।

शुरुआती दौर में विभिन्न गुटों का निर्माण साम्प्रदायिक रूप में होने लगा एवं ये गुट एक दूसरे के विरोधी बन आपस में संघर्ष करने लगे। इस प्रकार यह विचारधारा अपने वर्ग विशेष की घोतक होकर हिंसक रूप धारण करती चली गयी। प्राचीन समय में ब्राह्मण एवं बौद्ध भिक्षुओं में इस असहिष्णु विचारधारा के कारण ही भीषण नरसंहार हुए। ऐतिहासिक रूप से

देखा जाय तो कई ऐसे शासक थे, जिन्होंने इस असहिष्णु विचारधारा से ग्रसित हो बौद्ध भिक्षुओं का कत्ले आम कराया, ''वास्तविकता यह है कि साम्प्रदायिकता का सवाल हमारे यहाँ उस समय से है, जब बौद्ध और ब्राह्मण एक-दूसरे के खिलाफ लड़ रहे थे। यह वह भारत भूमि है, जहाँ पुष्यमित्र शुंग ने हर बौद्ध मस्तक के लिए राजकोष की सौ मुद्राएँ निर्धारित की थी।''[३] वर्तमान में जिस प्रकार इस कुत्सित विचारधारा से ग्रसित होकर धार्मिक उन्मादियों द्वारा त्रासदीपूर्ण घटनाओं को अंजाम दिया जाता है, इसका वैसा ही स्वरूप प्राचीन काल के शासकों द्वारा किया जाता था। औपनिवेशिक युग में ब्रिटिश शासकों द्वारा इस विचारधारा को पुष्ट किया गया, वे अपनी कूटनीतिक चालों द्वारा हिन्दूओं एवं मुसलमानों के बीच वैमनस्यता की भावना को जन्म देते थे। 'फूट डालों और राज करों' की इस कूटनीति द्वारा ब्रिटिश हुकूमत कई वर्षों तक अपना वर्चस्व स्थापित करती रही। इसके बाद इसे आगे बढ़ाने का काम मुस्लिम शासकों द्वारा किया गया।

भारतीय नवजागरण एवं मुक्ति आन्दोलन से यह तो स्पष्ट हो गया कि साम्प्रदायिकता केवल अंग्रेजों द्वारा फैलायी गयी कूटनीति की उपज नही थी, बल्कि इसका एक कारण भारतीय नवजागरण एवं मुक्ति आन्दोलन में मौजूद हिन्दू मानसिकता का होना भी था। इस आन्दोलन से अल्पसंख्यकों की मानसिकता बदली कि आजाद भारत में उनका भविष्य सुरक्षित नहीं रह पायेगा। हिन्दू महासभा, आर्य समाज का वैदिक पुनरुत्थानवाद, तिलक का गणपति उत्सव आदि ने अल्पसंख्यकों के मन में हिन्दू प्राथमिकता का भाव भर दिया और इस भाव के अहं एवं कुछ वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति ने देश के दो टुकड़े करवा दिये जिसका दुष्परिणाम आम जनता को भुगतना पड़ा। लेकिन वर्षो पहले देश दो टुकड़ों में विभाजित हो गया अंग्रेज चले गये किंतु यह विष वेली आज भी पल्लवित होती रही है।

आजादी के बाद तमाम भौतिक विकास के बावजूद भी यह सोच बहुत गहरे तक लोगों के मन में समा चुकी है और अधिक व्यापक एवं घातक रूप में हमारे राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र पर उभरी है। विभाजन के कई वर्षों तक अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक के बीच छिटपुट हिंसा हुई और होती रही एवं विभिन्न दलों के राजनीतिक पार्टियों द्वारा अपनी स्वार्थपूर्ति के कारण धर्म को हथियार के रूप में प्रयोग करते हुए ऐसे दंगे कराये गये जिसका दुष्परिणाम बेकसूर लोगों को भुगतना पड़ा। किसी भी तरह की साम्प्रदायिक हिंसा या दंगा एक दिन में घटित नहीं होती, बल्कि इसके लिए धीरे-धीरे लोगों को बरगलाया जाता है। इस तरह से अंधभक्तों एवं धार्मिक उन्मादियों को एक जुट कर ६ दिसम्बर, १९९२ ई. को अयोध्या में बाबरी मस्जिद के विवादास्यद ढांचे को गिरा दिया ''दुर्भाग्य से आर०एस०एस० जनसंघ बाद में बनने वाली भारतीय जनता पार्टी की हिन्दूवादी राजनीति ने कांग्रेस तथा अन्य पार्टियों द्वारा

मुसलमानों की आश्वास्ति को मुस्लिम तुष्टिकरण कहकर साम्प्रदायिक रण नीति शुरु की। देश की बहुल संस्कृति और धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को झटका तब लगा, जब ६ दिसम्बर १९९२ को अयोध्या में बावरी मस्जिद के विवादास्पद ढांचे को सुप्रीम कोर्ट की चेतावनी के बावजूद गिरा दिया गया। स्वतंत्र भारत में यह उग्र साम्प्रदायिक राजनीति की पहली सफलता थी।''[४] इस घटना के पश्चात् एक वर्ग विशेष को पहली बार असहाय व असुरक्षित देखा गया। बावरी विध्वंस की प्रतिक्रिया स्वरूप बांग्लादेश एवं पाकिस्तान में अल्पसंख्यक हिन्दूओं के साथ अत्याचार हुए, वहाँ मंदिरों को तोड़ा गया। इस विंध्वस के कुछ वर्षों बाद गुजरात दंगा (२००२) हुआ, जिससे पूरा देश हिल गया।

वर्तमान समय में साम्प्रदायिकता की सबसे बड़ी समस्या आतंकवाद के रूप में वैश्विक स्तर पर उभरी है। विभिन्न तरह के आतंकवादी संगठन जैसे, अलकायदा, लश्कर-ए-तैयब, तालिबान, बोकोहरम, आई.एस.आई. आदि आये दिन आतंकवादी हमले एवं निर्दोष लोगों की हत्या करा रहे हैं। आई.एस.आई. के आतंकवादियों द्वारा हमलों के अतिरिक्त अपने जुल्म एवं क्रूरता के वीडियो, जिसमें बंधकों का सिर कलम करने एवं जिंदा जलाने, बच्चों को गोली मारने, सूली पर लटकाये जाने, गाड़ी से घसीटने आदि के दृश्य से खौफ फैलाने की कोशिश की जा रही है। पिछले वर्षों में फ्राँस, अमेरिका तथा पंजाब के पठानकोट एयरबेस पर आतंकी हमला एवं पाकिस्तान के बाचाखां विश्वविद्यालय पर आतंकी हमला इसका ज्वलंत उदाहरण है। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक धार्मिक उन्माद से ग्रसित मानसिकता ने एम.एम. कलबुर्गी, गोविंद पानसरे, नरेन्द्र डाभोलकर, इखलाक एवं गौरी लंकेश आदि निर्दोष व्यक्तियों की हत्या की।

नब्बें के दशक की हिन्दी कहानियाँ विविध विषयवस्तु को लेकर लिखी गयी जिसमें इस समस्या को प्रमुखता से उठाया गया है। इस दशक की हिन्दी कहानियों में साम्प्रदायिकता के विविध स्वरूपों कारण एवं निवारण का भी चित्रण किया गया है। विभिन्न कहानीकार अपनी कहानियों के माध्यम से इसकी तह में जाकर अराजक तत्त्वों को बेनकाब करता है, ''भारत में सन् नब्बें के बाद बाबरी-विध्वंस के समय से हिन्दुत्ववादियों का बढ़ता ज्वार मुस्लिमों की मानसिकता आदि को कहानियों का विषय बनाया गया है, बाबरी के बाद मुंबई बम विस्फोट आदि उसके बाद देश भर में हुए दंगों ने रचनाकारों को विचलित किया। उसके भी पहले सन् १९८४ ई. में हुई इन्दिरा गाँधी की हत्या आदि कई वैविध्यपूर्ण प्रश्नों से जुड़ी ये कहानियाँ साम्प्रदायिकता की समस्याओं को व्यक्त करती हैं।''[५] इस दौर की महत्त्वपूर्ण कहानियों में संजय खाती की कहानी 'अयोध्या', स्वयं प्रकाश की 'पार्टीशन' एवं 'क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा है', नासिरा शर्मा की 'सबीना के चालीस चोर', हरि भटनागर की 'नाम में क्या

रखा है', पंकज विष्ठ की, 'क्या कहना है जटायु', असगर वजाहत की 'जख्म', 'मुश्किल काम' नीलाक्षी सिंह को 'परिंदे का इंतजार सा कुछ' हृदयेश की 'अफवाहे' आदि उल्लेखनीय है।

अपने और अपनी मिट्टी से परायेपन जैसी दशा को स्वयं प्रकाश अपनी कहानी पार्टीशन में व्यक्त करते हैं। कहानी के मुख्य पात्र कुर्बान भाई का पूरा परिवार सगे-सम्बन्धी सम्पत्ति सब कुछ खत्म हो गयी, फिर भी वे अपने त्रासद अतीत को इंसानियत और शराफत के बल पर लाघते हैं। यह कहानी साम्प्रदायिक मानसिकता को जड़ों से एवं सांस्कृतिक ऐतिहासिक दृष्टि के साथ उघाड़ने को कोशिश करती है। कुछ लोग मुसलमानों के प्रति अकारण शंकालु हो जाते हैं और उन्हें देशद्रोही मानकर उनसे दूर रहने की कोशिश करते हैं। बैलगाड़ी वाले के धक्का मारने के बाद कुर्बान भाई को 'भाई' नहीं बल्कि 'मियां' कहकर सम्बोधित किया जाता है जिससे वे अंदर तक टूट जाते हैं और कहते हैं- ''यह क्या हुआ?.. कैसे हुआ। क्या गोम्या उन्हें जानता नहीं? एक ही मिनट में वह 'कुर्बान भाई' से 'मियां' कैसे बन गए।'' कुर्बान भाई की अन्तर्आत्मा पूरी तरह से दुखी हो गयी। नासिरा शर्मा ने 'सबीना के चालीस चोर', कहानी में अपनी पात्र सबीना के माध्यम से यह व्यक्त किया है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी साम्प्रदायिकता के बादल छूटे नहीं, बल्कि पूर्व की तुलना में माहौल अधिक विषाक्त हो गया है। छोटी-छोटी बात पर दंगे हो जाना अब आम बात हो गयी है, सभी राज्य शहर इसकी चपेट में आ गये हैं। साम्प्रदायिक ताकतें बरसों से देशभर में विष फैला रही हैं। सबीना के अब्बू सब्बीर साहब कहते हैं-''गुनाहों का कफ्फारा तो हमें अदा करना है बेटी! यह जहन्नुमी सफर खत्म नहीं होगा। जिस शहर में भी हम रहेंगे, वहाँ यहीं सब भोगना पड़ेगा। फसाद हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगे। सन् सैतालीस के बाद से यही देखता-भोगता आ रहा हूँ।''[६] स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद शैक्षिक परिवेश भी धूल-धूसरित रहा है और अज्ञानता भी इस फसाद को जन्म देती है, इस सम्बन्ध में सब्बीर आगे कहते हैं-''शिक्षा हमारे बीच सही ढंग से फैलती तो यह अनपढ़ जनता हमारी तरह धोखा न खाती और अपना अच्छा-बुरा खूब समझती।''[७] सबीना एक छोटी लड़की है, जो बड़ों-जैसी समझ रखती है। उसका मानना है कि फसाद कराने वाले, दूसरों का हक मारने वाले ही चालीस चोर हैं, जो हमारे कमजोर वर्ग को दबाते हैं।

हरिभटनागर की कहानी 'नाम में क्या रखा है' बाबरी-विध्वंस के दो दिन बाद हुई एक घटना का चित्रण है। चारों तरफ दंगा फैला है और एक वर्ग विशेष को ही निशाना बनाया जाता है। हिन्दू किस प्रकार मुस्लिम विरोध करते हैं और कहानी के पात्र हिन्दू की स्थिति पर भी अंधेपन से विचार करते हैं. इसका उदाहरण गौरी बाबू के इस कथन से देख सकते है, ''गौरी बाबू ऐसे व्यक्ति थे, जो यह मानते थे कि हिन्दुस्तान में हिन्दू के अलावा किसी दूसरी कौम को रहने का हक नहीं''[८] गौरी बाबू कट्टर हिन्दुओं का प्रतिनिधि चरित्र और हिन्दूत्व

को नये ढंग से गढ़ने की फिराक में रहता है। ऐसी ही उन्मादी चरित्र के बहकावें में आकर नवयुवक उत्तेजित होते हैं, मारने, काटने, बलात्कार, आगजनी के लिए अपने मन-मस्तिष्क को सुनियोजित तरीके से तैयार करते हैं। नाम में क्या रखा है, किन्तु साम्प्रदायिकों को नाम ही पहचान दिलाते हैं।

'क्या कहना है जटायु' कहानी में पंकज विष्ट बाबरी-विध्वंस के बाद देश में फैली त्रासदी की स्थिति का वर्णन करते हैं। ६ दिसम्बर, १९९२ के बाबरी-विध्वंश के बाद देश भर में जगह-जगह दंगे हो रहे थे, लोगों को जिंदा जलाया जाता है, हर तरफ आतंक और असहायता में चीखती-बिछड़ती आवाजे थी, चारों तरफ बदले की भावना से ग्रसित अन्धभक्तों की जय-जयकारें गूंजती थीं, अफवाहों, आशंकाओं ने मन में डर के कारण लोगों को और अधिक सताया। प्रशासनतंत्र से मदद मिलने का भरोसा किसी को न रहा, ''यहाँ सिर्फ अफवाहें थीं-आगजनी की, हत्याओं की, बलात्कारों की, घृणा की और अमानवीय बर्बरताओं की। यहाँ आँधी घरों के जलने की नहीं, जिंदा आदमियों के जलने की है।''[९] बर्बर धार्मिक उन्मादियों में केवल बदले की भावना थी, वे हिंसक घटनाओं को आनंद एवं मजे से अंजाम देते हैं। विशेष को सर्वश्रेष्ठ मानकर किये गये भयानक हिंसा का चित्रण इस कहानी के माध्यम से किया गया है।

असगर वजाहत ने अपनी कहानी 'जख्म' में साम्प्रदायिकता को देश के शरीर पर रिसने वाले जख्म जैसे मवाद की तरह माना है। दगें उसी की देन होते हैं। यह कहानी दंगे कैसे होते हैं, क्यों होते हैं और इसे कैसे रोका जा सकता है आदि प्रश्नों पर विचार करती है। साथ ही बुद्धिजीवी वर्ग एवं प्रगतिशील कहे जाने वालों की बखिया उधेड़कर रख देती है। इस सम्बन्ध ा में कहानी के पात्र उमाशंकर कहते है-''वे लोग जो मजहब के नाम पर वोट मांगते है। वे लोग जो मजहब के नाम पर नेतागीरी करते हैं।''[१०] वे फिर आगे कहते हैं, ''फिरकापरस्ती से उन लोगों को भी फायदा होता है जो इस देश की सरकार चला रहें है।''[११] युवाओं को धर्म के नाम पर इस कुकृत्य में लगाया जाता है उन्हें इसका कोई लाभ नहीं मिलता बल्कि इसमें फँसकर वे अपना पूरा भविष्य नष्ट कर डालते हैं। इसके साथ लेखक हिंसा, हत्या, आगजनी को रोकने के उपाय भी बताता है, भावुकता और आक्रोश का जवाब केवल प्रेम और तर्क से दिया जा सकता है।

साम्प्रदायिकता के फलस्वरूप उत्पन्न हुए भयानक वातावरण का चित्रण असगर वजाहत अपनी दूसरी कहानी 'मुश्किल काम' में करते हैं। दंगे में आदमियों को मारने की स्पर्धा का जुनून दंगाइयों पर सवार रहता. है, जिसकी सच्चाई दंगे खतम हो जाने पर मदिरालय में मदिरा ग्रहण करते हुए वे दंगें करते हैं। दंगे के बाद अक्सर इसकी चर्चा में दंगाइयों द्वारा की जाने

वाली नृशंसता को लेखक हमारे सामने रखता है। एक तरफ वे अपनी बर्बरता का परिचय देते हैं, तो दूसरी तरफ अपनी मुश्किलों को व्यक्त करते हैं। दंगाइयों की बर्बरता चरम पर होती है। औरतों एवं बच्चों को वहशीपन से मारा जाता है।

'परिन्दे का इंतजार-सा कुछ' कहानी बाबरी-विध्वंस की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी है, जो बदलते मानवीय सम्बन्धों और उनमें आने वाली टूटन को व्यक्त करती है। बाबरी-विध्वंस की घटना ने देश में ऐसी हवा बहा दी कि मनुष्य, मनुष्य न रहकर सिर्फ हिन्दू या मुसलमान होने के अहसास से भर गया है। इस कहानी का पात्र नसीर इन सबसे परे रहकर जीने की आस रखने वाली लड़की है। सही मायने में वह मानवता की मूर्ति है। ६ दिसम्बर, १९९२ के बाद उपजा खौफ, अजनबीपन, डर, अविश्वास, असुरक्षा के साथ इनसानियत, दोस्ती, प्रेम, सुरक्षा का भाव, रिश्तों को बचाने की कोशिश, चिन्ता आदि विशेषताएँ कहानी में मौजूद हैं। मस्जिद-विध्वंस के बाद एक ग्रुप जिसे नासमझ ग्रुप कहा जाता, जिसमें नसरीन, अख्तर, मनी, अनन्या, ज्योति, हर्ष, अतुल सब मिलजुल कर रहने वाले दोस्त हैं, अब ये सब दोस्त न होकर हिन्दू-मुसलमान दो वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। समय इतना खौफनाक हो चुका है कि इनसान की सही पहचान मिट गयी है और वह सिर्फ धर्म के रूप में ही पहचाना जाता है। हिन्दू-सिख-साम्प्रदायिक समस्या पर स्वयं प्रकाश की 'क्या तुमने कोई सरदार भिखारी देखा है' और हृदयेश की 'अफवाहें' महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं, श्रीमती इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद सिखों से बदला लेने की भावना ने हिन्दुओं में जोर पकड़ा और पूरी दिल्ली धधक उठी। कई सिख और हिन्दू दंगे में मारे गये। 'अफवाहें' दंगों में उत्तेजना और सनसनी लगाने का काम करती है। व्यक्ति मन पर हत्याएँ हिंसा भाव को कम नहीं होने देती। वें हिंसा के उन्माद को भड़काती हैं, जिससे उन्मादी मन घृणा, मान-अपमान के भाव से भर जाता है।

१९४७ ई. से शुरू से इस विचारधारा ने सभी वर्गों के लोगों को अपनी जकड़बंदी में कैद कर लिया, पहले साम्प्रदायिकता हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच फैली, लेकिन नब्बें के दशक से इक्कीसवीं सदी तक यह अनेक रूप धारण कर सभी वर्गों तक पहुँच गयी। अब हिन्दू-सिख, हिन्दू-इसाई, सिख-इसाई आदि धर्मों के लोगों के बीच भी आये दिन हिंसक झड़पें देखी जा सकती है, ''उड़ीसा लम्बे समय से इसाई विरोधी हिंसा का केन्द्र बना हुआ है। यह वही सत्य है, जहाँ कुष्ठ रोगियों की सेवा में रत ईसाई मिशनरी, ग्राहम स्टेन्स और उनके दो बच्चों को जिंदा जला दिया गया था।''[१२] नब्बें के दशक की हिन्दी कहानियां अपने समय की पड़ताल करते हुए इस असहिष्णु विचार धारा की घोर विरोधी होकर मानवता को सर्वोपरि मानती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद, आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना सं. २०१६, पृ. २८८, भारती भवन प्रकाशन, पटना।

२. विनायक काले, कितने पाकिस्तान साम्प्रदायिकता का स्वरूप और इतिहास, स. २०१४, पृ. १२, राका प्रकाशन, प्रयागराज।

३. हंस, अप्रैल-२००३, पृ० ६४

४. सामयिक सरस्वती, जनवरी-मार्च २०१९ अंक १६, पृष्ठ ७१

५. दतात्रेय मुरुमकर, हिन्दी-साहित्य में वर्णित साम्प्रदायिकता का स्वरूप सं.-२०१२, पृ० २०१, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।

६. नासिरा शर्मा, सबीना के चालीस चोर, संस्करण, १९९७, पृ०-१६०, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली।

७. वही, पृ० १६०

८. संजय खाती, बाहर कुछ नहीं था, संस्करण, २००७, पृ० ९३, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

९. पंकज विष्ट, टुण्ड्रा प्रदेश तथा अन्य कहानियाँ, पृ० ६६

१०. असगर वजाहत, प्रतिनिधि कहानियाँ, सं. २०१०, पृ० ६५ किताबघर प्रकाशन

११. वही, पृ० ६५

१२. असगर अली इंजीनियर, धर्म और साम्प्रदायिकता, सं. २०१२, पृ०-१२९ वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

-शोधार्थी

हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

⊙

स्त्री-जीवन-संघर्ष और नासिरा शर्मा की कहानियाँ

–डॉ० चन्द्रिका चौधरी

हमेशा खुद पर पर्दा डालने वाली इस दुनिया ने सहस्त्राब्दियों तक आधी आबादी की कितनी ही बड़ी-बड़ी कथाएँ अपने छोटे से दामन में सहेज रखी थी मगर और अधिक समय तक सँभाल नहीं सकी। वक्त की स्याही सदैव एक सी नीली नहीं रह सकती। अब गुलाबी स्याही भी उस एक रंग के समानांतर चलने लगी है। ''इतिहास साक्षी है कि प्राचीन भारत के ऊँचे मानसिक स्तर को समय की भयानक घटनाओं से अनेकों बार गुजर कर कैसी-कैसी खाइयों में गिरना पड़ा और जहाँ मानव चिंतन ने बहुत नीचे स्तर को छू लिया, वहाँ नारी की बुद्धिमता और स्वतंत्रता को भयानक परिणाम भोगने पड़े।''[१]

एक दुनिया के भीतर कई दुनिया के कपाट खोलती स्त्री अब अनगिनत कथाओं के केंद्र में बैठी नजर आती है। यद्यपि नायक प्रधान समाज में जाँबाज धनिया के नायकत्व की पगड़ी बार-बार, भीरू होरी के माथे बाँधी जाती रही है, किंतु जब से चूड़ियों वाली मजबूत कलाइयों की कलम पकड़ने वाली उँगलियों ने अपनी तादाद निरंतर बढ़ाई है, उन अब तक छिपी या छिपा दी गई दोयम समझी जाने वाली आधी जनसंख्या की जगह बदलने लगी है। उनके जीवन की जिन सूखी और बेरंग शाखों को दुनिया के सामने हरा दिखाया जाता रहा है, उन जबरन पोते हुए हरे रंग को धो-धाकर सूखी शाखों की सच्चाई संसार के सामने रखने वालों में महिला लेखकों की संख्या अधिक है। उन सामयिक लेखिकाओं में एक बेहद संजीदा और जुझारू कथाकार नासिरा शर्मा जी हैं। ''महिला लेखन को प्रायः हाशिए का लेखन माना गया कोष्टक में बंद एक पूरक कर्म। हाशिए और कोष्ठक से निकालकर इसे केन्द्र में लाने के लिए पिछली पीढ़ी की लेखिकाओं ने अथक परिश्रम किया।''[२]

किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व से रू-ब-रू होने के लिए उससे मिलना, बातें करना और उसके साथ वक्त गुजारना बहुत जरूरी होता है, मगर किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व को उसकी रचनाधर्मिता और लेखन में भावनाओं की गहराई के माध्यम से समझा जा सकता है। दो संस्कृतियों के मध्य जीने वाली नासिरा जी की कहानियाँ भी दो सांस्कृतिक परिवेशों के संघर्षों, समस्याओं और जज्बातों से जुड़ती नजर आती हैं। ''इनके चित्रण में दृष्टि की संकीर्णता नहीं है। नासिरा शर्मा की कहानियों की विषयवस्तु में यह विविधता और विस्तार इसलिए है कि वे स्वयं इन सबकी प्रत्यक्ष द्रष्टा रही हैं।''[३]

उन्होंने लगभग अपनी सभी कथाओं के केंद्र में स्त्री को रखा; उनके जीवन के अँधेरे कोने दिखाए और उन अँधेरे कोनों पर चिराग रखने वाली भी ज़्यादातर उन्हीं को बनाया। उनकी कहानियों की स्त्रियाँ, परंपरा बनाम आधुनिकता की टकराहटों के संक्रमण से बचतीं-सरकतीं, जीवन मूल्यों, संस्कारों, विश्वास और वैचारिक बौद्धिकता का दामन थामे उस उजली दुनिया में प्रवेश चाहती हैं जहाँ नियम-कायदों, परिस्थितियों और परंपराओं से हटकर जिंदगी अपनी पूरी आबोहवा के साथ पनपती है। वह किसी के दामन में आधी और किसी के दामन में पूरी नहीं आती बल्कि खुशियों की बराबर उँगलियों से सब की पीठ थपथपाना जानती है। ''नासिरा शर्मा, देश-काल, धर्म, जाति, संप्रदाय के भेदों से ऊपर उठकर एक दिल और एक दिमाग वाले इनसान के दुःख-दर्द, उत्थान-पतन को आकार देने वाली कहानीकार हैं।''[४] इसमें कोई शंका नहीं कि वे कथा क्षेत्र में नए समय की पहचान बन कर आई हैं।

नासिरा जी की अधिकांश कहानियाँ जिंदगी की तमाम जरूरतों, सामाजिक सरोकारों और हकीकती संवेदनाओं के मध्य जूझते-जीते स्त्री-समाज की संघर्षपूर्ण स्थिति की भावनात्मक बेबाक-बयानी प्रस्तुत करती हैं। मुस्लिम समाज में मेहर की रकम निकाह के पहले तय की जाती है। यह शौहर द्वारा बीवी को नगद या अन्य किसी संपत्ति के रूप में दी जाती है। खुशहाल और बराबरी के साथ जिंदगी जीने के वायदे के रूप में मर्द, औरत को मेहर की शक्ल में पेशगी अदा करता है। ''इसका मतलब यह हुआ कि 'मेहर' उस ईमानदारी की 'सिक्योरिटी' है जिसको आगे की तयशुदा जिंदगी में शौहर को अपने बर्ताव और व्यवहार से साबित करना है। या यूँ कहा जाए कि मेहर औरत की कीमत न होकर मर्द की जमानत है।''[५]

खुदा की वापसी' कहानी में जुबैर, मेहर की रकम की माफी के बाद ही घूँघट उठाने की शर्त पर शादी की पहली रात में फरजाना से मेहर माफ करवा लेता है। मोहब्बत और स्वाभिमान के बीच झूलती पढ़ी-लिखी फरजाना आत्म सम्मान की छेनी-हथौड़ी से समझौते की मोहब्बत और शर्तों पर टिकी रिश्तों की दीवार तोड़कर पीहर चली जाती है। वहाँ अपने दुनियावी खुदा (पति) के इंतजार में दिन-रात उसकी वापसी के स्वप्न देखती है मगर उसके खुदा की वापसी नहीं होती।

विडंबना यह है कि भारतीय समाज के आँगन में पलने-बढ़ने वाले लगभग सभी धर्मों में पुरुष-समाज का खुदा तो एक ही होता है, जिसने मर्द और औरत का मुकद्दर लिखा। पर विवाहित स्त्री का मुकद्दर उसका दुनियावी खुदा (पति) बन जाता है, जिसकी हर एक खुशी और इच्छा पर वह अपनी अस्मिता, आत्मसम्मान, जज्बातों और अपने हिस्से के अधिकारों को खोती-छोड़ती रहती है। शौहर की खुशी के लिए बीवी अपना अधिकार छोड़ सकती है मगर बीवी के आत्मसम्मान के लिए शौहर अपनी तयशुदा जगह से खिसक जाए या उसकी किसी

जायज इच्छा की जमीन पर पाँव रख दे,ऐसा हो पाना समंदर की लहरों को अपनी अंजुलि में भरने के समान है। ''औरत हर रिश्ते में एक भूमिका निभाती नजर आती है, वह है मोहब्बत की,चाहे रिश्ते के रंग, नाम अलग हों, मगर मर्द अपने रिश्तों में कितनी तरह कि भूमिका निभाता है, जालसाजी, चालाकी, गुरुर की। ताकत के नशे में वह किसी को कुछ नहीं समझता है, न बहन को, न माँ को, न पत्नी को।''[६] नासिरा शर्मा की कहानी 'खुदा की वापसी' स्त्री-सम्मान के लिए जमीन तलाशती है और समाज में उसकी अस्मिता की पड़ताल करती है।

नासिरा जी जब अपनी कथाओं में स्त्री-अंतर्मन के दबे-छिपे पन्ने तह-दर-तह खोलती हैं तो धर्म, आडंबर और सामाजिक व्यवस्थाओं की कई कड़ियाँ टूटती नजर आती हैं। 'दूसरा कबूतर' कहानी भारत,पाकिस्तान होते हुए सऊदी अरब तक का सफर तय करती है। सऊदी अरब में रहने वाला दौलतमंद शहाब, अपनी तीन औलादों और खूबसूरत बीवी रुक्कैया के होते हुए, बरकत नाम बदलकर धोखे से सादिया के साथ निकाह कर लेता है। एक घर में दो बीवीयों को अलग-अलग समय में रखकर ताउम्र मजे करने की चाह शहाब उर्फ बरकत को बर्बादी के कगार पर ला खड़ा करती है। वास्तविकता से वाकफि हो रुक्कैया और सादिया उसे छोड़ने का फैसला लेती हैं। ''रुक्कैया के सर पर जो भूत सवार हुआ वह 'खुलाह' या तलाक देकर ही उतरा।''[७] सादिया ने अपने घर दिल्ली पहुँचकर बरकत के पते पर तलाक नामा भिजवाया। जवाब में शहाब ने सादिया के पिता को फोन पर साफ-साफ कह दिया कि इस नाम का कोई शख्स यहाँ मौजूद नहीं है। यह पता शहाब का है और शहाब किसी सादिया को नहीं जानता। उसकी बीवी का नाम रुक्कैया है। सीमोन द बोउआ 'द सेकेंड सेक्स' में अकारण नहीं लिखती हैं- ''स्त्री पैदा नहीं होती स्त्री बना दी जाती है। यह भी एक सच्चाई है कि समाज में जिस गति से शिक्षा, समानता जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास हो रहा है उससे तीव्र गति से पुरुषवादी क्रूरता भी बढ़ रही है।''[८]

कुछ दिनों बाद रुक्कैया अपने वालिद के घर कराची जाकर शहाब से तलाक ले लेती है। रुक्कैया के चले जाने के बाद शहाब किसी तरह फोन पर सादिया को मनाने की कोशिश करता है मगर सफल नहीं होता। एक रोज शहाब को अपने पते पर सादिया का शादी कार्ड मिलता है। शहाब के गाल पर रुक्कैया के तलाक के तमाचे के बाद दूसरा झन्नाटेदार चाँटा पड़ता है। उसे लगता है पहले कबूतर के पीछे उसके हाथों में दबा यह दूसरा कबूतर भी खुले आसमान में उड़ गया। इस कहानी की स्त्री पात्र आत्मसम्मान की लड़ाई में जितनी तेजी से कूदती हैं उतने ही धैर्य के साथ विषम परिस्थितियों से जूझने के लिए तैयार नजर आती हैं। निःसंदेह यह कहानी हर स्त्री को यह सीख देती है कि जब तक वह अपने अधिकारों के प्रति

जागरूक नहीं होगी उसे उतना ही प्राप्त होगा जितना धर्म, राजनीति और समाज उसे देना चाहेंगे।

'ततइया' कहानी सास सहजो बारिन और बहू शन्नो के इर्द-गिर्द चक्कर काटती हुई, स्त्री जीवन के तीन खास पहलुओं 'स्त्री और समाज', 'स्त्री और सम्मान' तथा 'स्त्री और संवेदना' में से बेहद जरूरी पहलू 'संवेदना' की तलाश करती है, जहाँ पहुँचकर स्त्री-जीवन पर पड़ी घटाटोप कुहेलिका धीरे-धीरे हटने लगती है। उसके वर्तमान और भविष्य के अनगिन लम्हों में खुशियों की उम्मीद जगती है। सास सहजो की कड़वी जबान और तिक्त मन के 'ततइया' का डंक तोड़ने का संभव दृश्य दिखाकर कहानीकार स्त्री-विमर्श को एक नया अर्थ देती हैं। कई जगहों पर स्त्रियाँ ही स्त्रियों की दुश्मन बन बैठती हैं मगर तोहमत पुरुष-समाज पर लगता है। स्त्री का स्त्री के प्रति संवेदना और हृदय परिवर्तन दिखाकर लेखिका स्त्री-विमर्श की एक बेहद जरूरी परत खोलती हैं। स्त्री, पुरुष-समाज से जिस सम्मान, समानता और स्वतंत्रता की चाह करती है, पहले उसे खुद ही अपने समाज के प्रति बरतना होगा।

सहजो बारिन अपने पुत्र युद्धवीर के लिए शन्नो जैसी सुंदर-सुशील बहू पाकर गदगद है। उसे इस बात का भी भान है कि मोहल्ले के पुरुष-समाज की आँखें बहू की खूबसूरती निहारने के बहाने ढूँढती रहती हैं। बहरहाल जब दशहरा कमेटी वालों ने शन्नो को सीता बनाने की इच्छा जाहिर की तो सहजो किसी तरह बहाने से मना कर दी परंतु दशहरा की रात जब कोई शराबी शन्नो का हाथ पकड़ कर जबरन खींच ले जाता है और नशे की हालत में खुद गिर पड़ता है तब शन्नो भागकर छिप जाती है। युद्धवीर माँ के कहने पर शन्नो को ढूँढने निकलता है और उसे साथ लेकर लौटता है मगर बेकसूर शन्नो के चरित्र पर जब सास सहजो उँगली उठाती है, उसे रसोईघर से दूर रखती है, गहने उतरवाकर कोठरी में बंद रखती है तब मासूम शन्नो अपनी बेगुनाही का सबूत नहीं दे पाती। युद्धवीर भी माँ के विरुद्ध जाकर बेकसूर शन्नो की मदद नहीं कर पाता। इस जूठे पातल को मैं नहीं रखने वाली...इसके हाथ-पैर तोड़ इसको गंगा जी में बहाए आओ! बारिन ने फैसला सुनाया।''[९]

गाँव के दूसरे घरों की बहू-बेटियों की समस्याएँ सुलझाती सहजो आखरिकार अपने घर की बहू की दुर्दशा का कारण स्वयं को पाती है। यह कहानी समाज को यह प्रश्न करती है कि आखिर औरत की दुर्दशा कहाँ से शुरू होती है? कोई घटना घटने से या फिर उस सारे काण्ड के निपट जाने के बाद? अर्थात् जब उसे घरनिकाला मिलता है या फिर वह घर में रहकर प्रताड़ित बनी रहती है! ''आखिर वह यह सब क्यों कर रही है। दूसरों के लिए लड़ती है मगर अपनीकृ! उसके अंदर न्याय का यह दोहरा मापदंड क्यों?''[१०] एक स्त्री किस तरह दूसरी स्त्री की खुशहाल जिंदगी में जहर घोल सकती है और कैसे आत्म-मंथन और संवेदना

के जरिए उसके बदहाल जीवन को खुशगवार बना सकती है? इसका खूबसूरत चित्रण लेखिका ने 'ततइया' कहानी में किया है।

'दूसरा ताजमहल' कहानी उम्र के हर पड़ाव पर पुरुष से छली जा रही एक स्त्री की मनोव्यथा है। ''नयना सारी चीजों से बेखबर पीड़ा के संसार में डूबती जा रही थी। उसके अंदर साँस लेती औरत किसी तूफान की तरह तड़प रही थी।''[११] पहले नयना के डॉक्टर पति नरेंद्र का अपने से जूनियर महिला डॉक्टर से प्रेम-प्रसंग और उसके बाद पति की भौतिक-दौड़ की गर्मी ने उनके रिश्ते में ठंडापन ला दिया; उस ठंडी खाली जगह को नयना ने रविभूषण द्वारा नशे की कैफियत में फोन पर की जाने वाली मोहब्बत की रंगीन बातों से भरना चाहा। जिन बातों ने उसके भीतर खंडहर हो चुकी प्रेम की इमारत पर फिर से ताजमहल बनाने की पुख़्ता जमीन तैयार कर ली थी; उन्हीं बातों के विश्वास की जमीन पर जब-जब उसने पाँव रखना चाहा, वह रेत के टीले की तरह बार-बार धसक जाती। ''क्या मौखिक शब्दों की कोई जिम्मेदारी नहीं होती? क्या वह मुँह से निकलते ही हवा में विलीन हो जाते हैं?''[१२] स्वप्न के उस दूसरे ताजमहल के आँगन में महीनों घूमती नयना को जब उसकी दीवारें अचानक ध्वस्त होती नजर आईं; वह उन ढहती दीवारों के तले दबने से खुद को बचा नहीं पाई और मुमताज की कब्र में दाखिल हो गई। स्त्री जीवन की जमीन भावनाओं, प्रेम और विश्वास से पुख़्ता बनती है। यह जमीन, वह अपनी संवेदना के दायरे में आने वाले सभी अजीजों को मुहैया कराती है, मगर जब कभी वह पुरुष समाज से ऐसी किसी जमीन की चाह करती है तो ज़्यादातर बाहर से मजबूत दिखने वाली जमीन भीतर से खोखली होती है।

'मेरा घर कहाँ है' कहानी पितृसत्तात्मक संरक्षणवादी फलसफे को चुनौती देती है। कथानायिका सोना के माध्यम से नासिरा जी यह प्रश्न करती हैं कि आखिर एक लड़की का घर कहाँ होता है? सोना की माँ लाली धोबिन के- ''लड़की का असली घर शौहर का होता है माँ-बाप तो पालने-पोसने वाले होते हैं।''[१३] जुमले की सुइयाँ बार-बार सोना के दिमाग पर चुभोती रहती। पति नानकू के घर से बेइज्जत कर निकाली गई बेघर सोना जहाँ-जहाँ शरण लेती, हर जगह बोटियाँ नोचने वाले जानवरों से पाला पड़ता। कई जाति, धर्म, वर्ग और संस्कृति में बँटे समाज में स्त्री को भीड़ हर तरफ नजर आती है, मगर उस भीड़ का कोई चेहरा नजर नहीं आता। उसे यह कहकर बेघर रखने की कोशिश हमेशा से की जाती रही है कि उसके दो घर होते हैं- पति का और पीहर का। आखिरकार बेसहारा सोना को जिस झुग्गी में सहारा मिला वह भी सिनेमा हहल बनाए जाने के लिए बुलडोजर से उखाड़ दी गई। समाज, राजनीति और धर्म में खुद को निरंतर खोने वाली स्त्री कभी खुद को ढूँढ ही नहीं पाती।

चार बीवियाँ रखने की इजाजत किन हालातों और शर्तों पर शरियत देती है? इस बात के इल्म के बावजूद कुछ मर्द जंगल का कानून अपनाते हैं। ''पितृसत्तात्मक विचारधारा अधीनता को सुरक्षा के रूप में पेश करती है।''[१४] 'नई हुकूमत' कहानी में तीन जवान संतानों का बाप अल्ताफ अपनी अधेड़ उम्र की बीवी हाजरा के रहते एक दिन अचानक निकाह कर नई दुल्हन घर ले आया। हाजरा, जिसने सत्ताइस सालों तक तिनका-तिनका जोड़कर उस आशियाने को सजाया, दो बेटियों की शादी करवाई, बेटे को सऊदी अरब भेजा। वह अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए घर छोड़कर गरीब माँ के घर चली तो गई मगर अपने अधिकारों की लड़ाई न लड़ सकी। बूढ़ी अम्माँ बेटी की इस जज्बाती फैसले पर कहती है- ''तुम लड़कियाँ भी अजीब हो। जहाँ हक बनता है वहाँ लेती नहीं हो। जहाँ लड़ना होता है वहाँ खामोश रह जाती हो और जहाँ कुछ भी नहीं करना होता वहाँ तूफान उठा देती हो?''[१५]

समाज का एक ऐसा तबका जो जीवन और सृजन की उपजाऊ जमीन है। जिसे सृष्टि विकास के लिए, दूसरों की इच्छा के आधार पर उत्पन्न करने का अधिकार तो है मगर उस सृजन और उत्पादन को अपना कहकर हक जताने का अधिकार नहीं है। ''संवेदना एक नैतिक दायित्व है जिसके अनुसार आज की उपेक्षितों और कल के अपेक्षितों के लिए साहित्य रचने की आवश्यकता है।''[१६]

निष्कर्ष

यह सभी कहानियाँ धर्म के कठमुल्लापन, बाहरी आडंबरों में आकंठ डूबे और नियम-कायदों की बैसाखी थामे समाज के बीच, स्त्री-समाज को अपने अधिकारों, स्वाभिमान, आत्मसम्मान और अस्मिता रक्षा की लड़ाई खुद लड़ने की प्रेरणा देती हैं। संसार के सबसे बड़े धर्म 'मानवता' को दरकिनार कर अपने द्वारा बनाए और बिगाड़े गए दस्तूरों, धर्मों और राजनीति की दुनिया को श्रेष्ठ कहने वाले समाज के प्रति नासिरा जी की गुलाबी स्याही विरोध दर्ज करती है। जिंदगी की ऊँची-नीची राहों में आँखें मूँद कर मुसलसल चलने वाले स्त्री-समाज के सामने आत्मसम्मान के साथ जी पाने का हौसला पैदा करती हैं; उनके संघर्षों, संवेदनाओं, संवादों और सवालों की पैरवी करती हैं। ये कहानियाँ उन्हें गुलाम बनाने की गहरी साजिश रचने वाली दुनिया से इतर स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्माण का एक नया सजग संसार उनके सामने खड़ा करती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. अमृता प्रीतम, कड़ी धूप का सफर, भूमिका से, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी मेल, दिल्ली, प्रथम संस्करण : १९८२, पृ.सं.-०६

२. ममता कालिया, नई सदी के पहचान : श्रेष्ठ महिला कथाकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण : २००६, पृ.-०८
३. डॉ. नगेंद्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, सैंतालीसवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण : २०१४, पृष्ठ-७५६
४. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, एकादश संस्करण : २०१६ ई., पृ.सं.-४३४
५. नासिरा शर्मा, खुदा की वापसी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण : २००१, पृ.सं.-२६
६. वही, पृ.सं.-३४
७. वही, पृ.सं.-१३३
८. वागर्थ, वर्ष २८, अंक ३१६, मार्च-२०२२, स्त्री सच- चंद्रभान सिंह यादव के आलेख से, पृ.सं.-८५
९. https://hindi-matrubharti-com/book/read/content/19879442/tatiya&.
१०. https://hindi-matrubharti-com/book/read/content/19879442/tatiya&.
११. नासिरा शर्मा की लोकप्रिय कहानियाँ, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण प्रथम : २०१५, पृ. सं.-१६४
१२. वही, पृ.सं.-१६२
१३. नासिरा शर्मा, खुदा की वापसी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण : २००१, पृ.सं.-१५१
१४. आलोचना, अंक ७४, जुलाई-सितंबर २०२३, सत्ता शिवम सुंदरम -उषा के आलेख से, पृ.सं. -८५
१५. नासिरा शर्मा, खुदा की वापसी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण : २००१, पृ.सं.-१६३
१६. नामवर सिंह, कहानी नयी कहान, लोक भारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण : २०१९, पृ.सं.-५०

-सहायक प्राध्यापक हिन्दी
स्व. राजा वीरेंद्र बहादुर सिंह
शासकीय महाविद्यालय सरायपाली
जिला-महासमुंद (छत्तीसगढ़)
दूरभाष-८८८६६२३८८३
ई-मेल : drchanndrikachoudhary@gmail.com

अकाल में उत्सव : आम किसान की व्यथा

–रेशमा यादव

यह विमर्श पंकज सुबीर का उपन्यास 'अकाल में उत्सव' आम किसान का जीवन पर केन्द्रित है। इसमें मध्य प्रदेश की सूखापानी ग्राम पंचायत, जो जनपद मुख्यालय से चालीस किमी दूर है के राम प्रसाद नामक किसान की व्यथा अंकित है। राम प्रसाद दो भाई, तीन बहन हैं। राम प्रसाद के पिता दो पुत्र और तीन पुत्रियों की शादी के उपरान्त पाँच एकड़ से 'दो एकड़ जमीन छोड़कर चल बसे। इसी में राम प्रसाद ने पिता का नुक्ता (तेरहवीं) भी किया। पिता की पगड़ी राम प्रसाद के भाग्य में थी। राम प्रसाद की पत्नी कमला, तीन पुत्र विनोद, राहुल और रोहित की समस्त आवश्यकताएं एवं आकांक्षाएं दो एकड़ जमीन की उपज पर निर्भर हैं। भूमण्डलीकरण, पूँजीवाद, शासन सत्ता, प्रकृति, परम्परा कुरीति, शोषण के दुष्टचक्र में राम प्रसाद को किसान से मजदूर बनकर आत्महत्या करनी पड़ती हैं।

दुनिया के विशाल जन समुदाय का पेट भरने के लिए दिन-रात खून को पसीना बनाकर निकाल देने वाले को 'अन्नदाता' कहा गया। जिसे जय जवान, जय किसान कह कर महिमा मण्डित किया गया जो इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भिक चरण में अपने ही पेट और पर्दा के लिए आत्महत्या करने को मजबूर है। भोजन मूलभूत आवश्यकताओं में प्रथम आवश्यकता है। इसका बोझ किसान के कंधों पर है। किसान व्यवस्था के जाल में फंसकर उपेक्षित हो गया। आज के दौर में किसान शब्द सबसे भयावह एवं डरावना होता जा रहा है। नव्य उदारवादी, पूँजीवादी व्यवस्था से भूमण्डलीकरण के दौर में उद्योगपतियों को बेतहासा मुनाफा हो रहा है। दूसरी ओर किसान अपनी मूलभूत जरूरतों के लिए दिन-प्रतिदिन टूटता जा रहा है। सूखा, ओला, बाढ़, असमय वर्षा,आवारा पशु किसानों के सम्मुख काल बनकर खड़े हैं। सरकारी नीतियाँ और महकमें अन्नदाता का मजाक उड़ाने के लिए तैयार हैं। इस प्रकार 'अकाल में उत्सव' उपन्यास एक ओर किसान जीवन के अकाल को स्पष्ट करता है, तो दूसरी ओर सरकारी खजाने को ठिकाने लगाने के लिए मुख्यमंत्री कार्यालय, जिला प्रशासन के सरकारी उत्सवों मनाने के निहितार्थ को व्यक्त करता है। 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में भूमण्डलीकरण के प्रभाव और पूँजीपति वर्ग के दबाव में किसानों की दुर्दशा को दर्शाया गया है। समय के साथ प्रत्येक वस्तु एवं श्रम के मूल्य में इजाफा हुआ। इस किनारे पर किसान न्यूनतम समर्थन मूल्य (M.S.P)

को कानून जामा पहनाने के लिए दिल्ली की सड़को पर सोने को मजबूर है। मध्यवर्गीय किसान का जीवन आग लगी मोम की तरह पिघलता जा रहा है। लेखक आज और पूर्व की दशा को पलड़े में रखकर तौलना चाहता है। उन्नीस सौ पचहत्तर में सोना पाँच सौ चालीस रूपया था। उस समय सरकार द्वारा गेंहू का समर्थन मूल्य लगभग सौ रूपये तय किया गया था। कहने का अर्थ है लगभग पाँच क्विंटल चालीस किलो गेहूँ में दस ग्राम सोना किसान खरीद सकता था। आज दस ग्राम सोने की कीमत लगभग साठ हजार है, और गेहूँ का समर्थन मूल्य २१२५ रूपया क्विंटल है। इस समय १० ग्राम सोना खरीदने के लिए किसान को लगभग २८ क्विंटल गेहूँ बेचने की जरूरत है। इस प्रकार किसानों की स्थिति पर लेखक चिन्ता व्यक्त करते हुए कहता है ''नेहरू ने कहा था यदि देश के किसान को तरक्की देखानी है तो किसान (सेक्रिफाइज)त्याग करे लेकिन यह नहीं बताया कि कब तक करे? आज तक वह किसान (सेक्रिफाइज) त्याग करता आ रहा है। वातानकूलित कमरों में मोटा-मोटा सरकारी वेतन ले रहे मोटे-मोटे अर्थ शास्त्री कहते हैं कि यदि अनाजों का किसानों की उपज का न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाया गया तो महँगाई बढ़ जायेगी।''[१] इसी प्रकार १९९० के इर्द-गिर्द डीजल का भाव ३ रूपया प्रतिलीटर था और गेहूँ का मूल्य लगभग २२५ रूपया क्विंटल था। यानी एक क्विंटलगेहूँ में ७५ लीटर डीजल किसान पाता था। २०२२-२३ में गेहूँ की सरकारी कीमत २१२५ रूपया है, डीजल प्रति लीटर दर लगभग ९७ रूपया है। किसान जब एक क्विंटल गेहूँ बेचेगा तो मात्र २१ लीटर डीजल मिलेगा। यह समीक्षा सिद्ध करती है कि जितने दर से महँगाई बढ़ी-उतने दर से किसानों की फसलों का मूल्य नहीं बढ़ पाया। इसलिए आम किसान की कमर टूटती जा रही है।

''वैश्विक बाजारवाद या भूमण्डलीकरण का प्रवेश मण्डियों की ओर हुआ। विज्ञान एवं तकनीकि का उद्देश्य किसानों को सहूलियत देने का था बजाय इसके विवरीत यह मध्य वर्गीय किसान के गले का फाँस बनता गया। यह व्यवस्था पूँजीवाद की नींव को मजबूत करने में नींव का पत्थर साबित हुई। इसके परिणाम स्वरूप किसानों की हालत हास्यास्पद और उद्योगपतियों की आय में क्रान्तिकारी इजाफा होना प्रारम्भ हुआ। इस सन्दर्भ में प्रभा खेताना का मत है-''आने वाली पीढ़ी इतिहास की किसी घटना को याद रखे या न रखे, मगर यह तो याद रहेगा कि कैसे बाजार आधारित भूमण्डलीय व्यवस्था प्रकट हुई कैसे इसकी ओर करोड़ो लोग खिचते चले गये और कैसे कुछ लोग की आय में बेइंतहा इजाफा हुआ।बिलगेट्स से लेकर अजीम प्रेम जी तक बाजार की बड़ी-बड़ी हस्तियाँ भूमण्डलीयकरण के ही परिणाम हैं।''[२] भूमण्डलीयकरण जहाँ एक ओर विश्व ग्राम बनाने की वकालत करता है वहीं दूसरी तरफ कुछ लोगों को महाजन, सूदखोर, सामन्त और उद्योगपति बनाकर शेष बहुतायत जनसमूह को

बंधुआ मजदूर बना दिया। जिसके कारण समस्त किसानों ने अपनी पुस्तैनी पगड़ी को गिरवी रखकर, मजदूरी करना शुरू कर दिया है।

साधारण या आम किसान विज्ञान एवं तकनीकि से था तो अनभिज्ञ या उसके पास साधन नहीं हैं। वह पूरी तरह कुदरत पर निर्भर है जनवरी में प्रार्थना करेगा कि पानी गिर जाय, फरवरी में ईश्वर से करबद्ध मनौती होगी बूंद न गिरे। फसल पक जाने पर दूध में अन्न पकाकर देवता को चढ़ायेगा कि इस समय मौसम के मिजाज से फसल को नुकसान न हो। यदि प्राकृतिक समस्याओं से फसल बचेतो फसल का उचित मूल्य प्राप्त करना बड़ी चुनौती है। बिचौलियों का आढ़तियों से कमीशन का सम्बन्ध है वे किसानों के अन्न को औने-पौने दाम में खरीदकर बीच में कुछ लाभ लेकर आढ़तियों को मुनाफा पहुँचाते हैं। दूसरी ओर जो सरकारी दुकानें खुली है वहाँ साधारण किसान के अन्न के साथ इतनी जाँच पड़ताल हो जायेगी कि वह परेशान होकर बिचौलियों की तलाश करने लगेगा। इस पर पंकज सुबीर का कथन है- ''आज कल तो आढ़तियों ने भी रंग के आधार पर दानों को छंटाने की मशीन लगा ली है। कम्प्यूराइज्ड कलर सॉर्टक्स मशीनें जो धब्बे वाले, दागी को छाँट-छाँट कर अलग फेकती जाती हैं और अच्छे दानों को अलग करती जाती हैं इसलिए आढ़तियाँ भी देखकर ही माल खरीदते हैं।''[३] आज चमक दिखाया, रंग-रोगन का युग है। व्यापारी महानगरों में माल बेचकर दो-तीन गुना से अधिक मुनाफा कमाते हैं इसके बदले में आम किसान को मिलता है कटौती का पैसा, झंझट, दर-दर ठोकरें, हाँ हुजूरी अगली बार मंडी न आने का संकल्प।

मंहगाई, बिचौलियें और भूमण्डलीकरण ने आम किसान को घुटने टेकने के लिए मजबूर कर दिया। उपन्यास में रमेश चौरसियॉ ए०डी०एम० राकेश पाण्डेय से कहते हैं-''अगर किसान खेती नहीं करेगा तो आप या हम खायेंगे क्या और वैसे भी किसान धीरे-धीरे मजबूर होता जा रहा है। इस देश में उसकी जमीन जा रही हैं कुछ दिनों बाद इस देश में मल्टी नेशनल कम्पनियाँ ही खेती करेंगी सारी।''[४] साधारण किसान धीरे-धीरे

हिम्मत हारता जा रहा है। अनेक कोशिशों के बावजूद उसके ऊपर कर्ज बढ़ता जा रहा है। इसलिए दिहाड़ी मजदूर बनकर जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ समझ रहा है। यदि कोई सरकारी सहायता की पेशकस होती है तो सक्षम अधिकारी एक ऑफिस में बैठकर सर्वे कर लेते हैं। जो किसान सहायता का पात्र होता है उसे बाहर करके बिचौलिए द्वारा दलाली पर पात्र गढ़ लिए जाते हैं। 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में दो कहानियाँ साथ-साथ चल रहीं हैं एक ग्रामीण आम किसान जिसका नेतृत्व राम प्रसाद कर रहा है दूसरी कहानी सत्ता या शासन तंत्र की नीति और नियति से सम्बन्धित है। शासन तंत्र का प्रतिनिधित्व कलेक्टर श्री राम परिहार, एस. डी.एम. दिनेश रघुवंशी, जिला शिक्षा अधिकारी योगेन्द्र देशमुख, पी.आर.ओ. देवाशीष मिश्रा

और कुछ समाज सेवी संगठन के शासन परस्त लोग कर रहे हैं।

राम प्रसाद अपनी धर्मपत्नी कमला के साथ अपने परिवार की स्वर्गनसैनी धीरे-धीरे धक्का मारकर आगे बढ़ा रहा है। उसे उम्मीद है इस बार फसल अच्छी जमी है। साहूकार के पैर नीचे दबा गला मुक्त हो जायेगा। परिवार की मूलभूत आवश्यकताएं भी पूरी हो जायेंगी। इस तरह के सोच-विचार में विद्युत विभाग से बिजली बिल की रसीद पटवारी के माध्यम से मिली। आम किसान को पटवारी से यमराज जैसा डर होता है, क्योंकि वह आता है, तो प्राण सूख जाते हैं। रसीद मिलते ही राम प्रसाद के परिवार की नींद हराम हो गई-क्योंकि-''किसान, कर्जा, कलेक्टर और कुर्की चारों नामों को साथ लेने में भले ही अनुप्रास बनता है लेकिन यह किसान ही जानता है कि इस अनुप्रास में कितना सं़त्रास छिपा हुआ है।''[५] उपर्युक्त अनुप्रास के शब्दों में से एक शब्द किसान के मुख मण्डल पर बारह बजाने के लिए काफी हैं। लेकिन जब चारों के दर्शन हो जाए तो किसान भयभीत हो जाता है।

मध्यवर्गीय किसान राम प्रसाद इतना पढ़ा है, हस्ताक्षर की जगह अगूँठा लगाकर काम निकाल लेता है। उसे पटवारी आकर बिल की रसीद दिया तो वह चिन्तित है। इस रसीद को तुड़वाने के लिए आगामी फसल कहीं एक मात्र सहारा है लेकिन उसको पकने में समय बाकी है। उधर उसकी पत्नी कमला के बीच-बीच में जरूरत के अनुसार सारे जेवर पहले गिरवी रखे गये, जब सहूकार का ब्याज सावन के धास की तरह बढ़ा तो अंत में बेच कर चुक्ता करना पड़ा। अब कमला की सासू माँ की अन्तिम निशानी एक तोड़ी बची है। राम प्रसाद इस धरोहर को बचाकर रखना चाहता था, लेकिन इसके सिवाय कोई रास्ता नहीं था-''कमला के पास बचा यह आखरी जेवर है तोड़ी। एक-एक करके चीजें जो गई तो वापस नहीं आई। किसान का सबसे ज्यादा नुकसान करती है फसल अच्छी आने की उम्मीद। अगर यह उम्मीद नहीं वह कम से कम जेवर गिंरवी न रखे सीधे बेच ही दे।''[६] किसान कर्ज और पटवारी की रसीद से डरकर जेवर सुनार के पास से ब्याज पर पैसा लेता है उसे यह आशा एवं विश्वास है कि फसल कटने के बाद बेचकर उसे छुड़ा लेंगे लेकिन आम किसान केवल मन बहलाकर रह जाता है। उसे कभी सफलता नहीं मिलती है।

आम किसान परम्परा वादी होता है। यह ज्ञान उसे अपने पिता की पगड़ी से मिला है यह पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता जा रहा है। राम प्रसाद की आर्थिक दशा बहुत दयनीय है। लेकिन जब अपने बहन की बीमारी की खबर पाता है, तो उसके पाँव कपने लगते हैं। वह बहन को देखने खाली हाथ नहीं जाना चाहता है। वह कहता है ''रिवाज के अनुसार चाहे दुःख हो चाहे सुख, पिता को बेटियों के दरवाजे खाली हाथ नही जाना चाहिए।''[७] राम प्रसाद के पिता अपनी पकड़ी पहना कर काल के गाल में समा गया। अब राम प्रसाद अपनी बहनों का

पिता और भाई दोनों है। यदि इस समय वह खाली हाथ बहन के यहाँ गया तो उसका मान-सम्मान घट जायेगा। उसके सामने एक ही रास्ता है कमला की अन्तिम आभूषण जो सुनार के यहाँ रखा था अब उसे बेचकर अपनी इज्जत को बचा ले। राम प्रसाद बहन का क्रियाकर्म पूर्ण करवा कर वापस घर आता है तो सर्वप्रथम अपने खेतों की परिक्रमा करता है। परिक्रमा करते हुए बीच-बीच में हाथ जोड़कर शायद यही कह रहा था कि कई दिनों से देख-रेख नही कर पाया इसके लिये क्षमा चाहता हूँ। यह एक किसान के मन की प्रसन्नता की अभिव्यक्ति का सरल तरीका है। इस बार फसल अच्छी जमी है इसी विचार में मन मोद का लड्डू खा रहा है कि कमला की जो तोड़ी बेचा हूँ यह हमारे पुरखिन की निशानी थी उसके बदले में फसल बेचने के बाद कमला के पाँव के लिए दूसरा कुछ ला दूंगा। कुछ कर्ज चुकता हो जायेगा। बच्चो के लिए कपड़े बन जायेंगे। राम प्रसाद देखता है-'' राम प्रसाद चेहरे के उस तरफ, खिड़की के बाहर चलती हुई बस की विपरीत दिशा में खेत दौड़ रहे थे गेहूँ और चने से लदे हुए खेत। जिसमें बस कुछ ही दिनों की कसर बची है।''[८] एक एकड़ गेहूँ की बुआई करने से लेकर उसकी मड़ाई करवाने में लगभग १५ से १७ हजार का खर्च आता है। सब कुछ लगभग अनुकूल रहा तो १५ से १८ क्विंटल पैदावार सम्भावित है जिसकी कीमत लगभग ३० से ३६ हजार रूपये है। यदि कोई प्राकृतिक आपदा आ जाये तो आम किसान के सारे अरमान वहीं दफन हो जाते हैं।

राम प्रसाद सहित सभी किसानों की फसल पकने के करीब पहुँच चुकी है। मौसम में परिवर्तन की आहट आम किसानों के कान खड़े कर दिए हैं। किसानों का परिवार अपनी-अपनी जगह से देवी, देवता भगवान को मनौतियॉ मान रहे हैं। किसी के मुख से नारियल चुनरी और किसी के हृदय से हाय-तोबा का कलेवा निकल रहा है। उधर गरज-चमक के साथ बादल घुमड़ते आ रहे हैं कमला और राम प्रसाद को नींद नहीं आ रही है उनका मन भय, आतंक, संत्रास, घुटन से भर गया था। कुछ देर बाद पानी बरसने एवं पत्थर गिरने की टप्प-टपप, कट्ट-कट्ट आवाज आना शुरू हुई। कुछ ही समय में यह आवाज शांत पड़ गई तो कमला सिर बाहर निकालकर देखती है तो चारो ओर सफेदी नजर आ रही थी यह सफेदी थी पानी और पत्थर की यह दृश्य राम प्रसाद और पत्नी कमला के आंखों के सामने आने लगा। जो इस प्रकार है- ''ओले गेहूँ के पौधे पर जहाँ पर टकराते हैं वहीं से उसे तोड़कर गिरा देतें हैं जो पौधे हवा के कारण जमीन पर पहले ही गिर चुके थे अब ओलों में दबकर उनकी कब्र बन रही है। जिन्दा कब्र शायद यह सफेद कफन है जो पूरे खेत पर बिछा दिया गया है कफन फसल का कब्र किसान की।''[९] 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में पंकज सुबीर यह कहना चाहते हैं कि किसान के सिर पर काल मड़रा रहा है उसके लिए तवा से उछला कड़ाही

में आ गिरा वाली कहावत चरितार्थ होती है। पंकज सुबीर ने सरकार, उत्सव कार्यक्रम के माध्यम से सत्ता शासन को तार-तार किया है कलेक्टर श्री राम परिहार का पियारो दबे स्वर में बताया कि पर्यटन विभाग से सूचना पत्र के माध्यम से मिली है कि शहर में सरकार एक उत्सव करवाना चाहती है। इसका पैसा पर्यटन विभाग से मिलना है। सम्पूर्ण सरकारी तंत्र और कुछ अधिकारियों की खुशामद करने वाले सामाजिक संगठन उत्सव को सम्पन्न करवाने में लग गये। सबकी दाल-भात में मूशलचन्द बनने की कोशिश थी क्योंकि यदि मार्च के पहले पैसा नहीं खर्च किया गया तो वापस चला जायेगा। कलेक्टर की आन्तरिक इच्छा थी कि यह कार्यक्रम सहयोग के पैसे से सम्पन्न हो जाये, बजट का पैसा बच जाये। कलेक्टर यह पैसा मुख्यमंत्री ऑफिस में वापस करके विश्वास हासिल करना चाहता है।

उत्सव की तैयारी अन्तिम दौर में थी। इसी समय राम प्रसाद के घर के.सी.सी. की फर्जी नोटिस आ जाती है। राम प्रसाद का मुँह खुला का खुला रह गया। वह कलेक्टर ऑफिस पहुँचकर कलेक्टर से कहता है-''हुजूर मैंनेतो एक पैसा भी नी लियो बैंक से म्हारी कुर्की करने को नोटिस दई दिये। गरीब किसान हूँ हुजूर, छोटी जमीन है, बाल-बच्चे पाली रियो हूँ जमीन से।''[१०] इस प्रकार आम किसान के साथ दुर्घटना पर दुर्घटना होती रहती है उससे वह जीवन भर उबरने का स्वप्न देखता रहता है। उसका साँझ का स्वप्न कभी पूरा नहीं होता है।

आजादी के लगभग ७० सालो में किसान भाग्य-भगवान और कर्म रूपी पाटों के मध्य पिस रहा है। उसका कोई वास्तविक सुध लेने वाला नहीं है सिवाय राजनीति के। आम किसान अपने परिवार की आवश्यक सामग्री को जुटा नहीं पा रहा है। उसके परिवार की स्वास्थ्य एवं शिक्षा कोसों दूर की कौड़ी प्रतीत होता है। उसका भाग्य भी उससे खेल रहा है-''किसान और किस्मत में शायद डाल-डाल पात-पात का रिस्ता है। किसान कुछ सोचता है किस्मत कुछ और कर देती है। अपनी सामान्य ओढ़नी विछौउनी तक सीमित सामान्य किसान प्रत्येक जगह से ठगा जा रहा है। उसे भाग्य और भगवान के सिवाय दूसरा रास्ता ही क्या है। वक्त पर भाग्य और भगवान भी नदारत मिलते हैं किसान कितना सरल इंसान जो मजबूरी की गठरी सिर से उतारना नहीं चाहता उसके मजबूरी की मजदूरी लेना चाहता है।

राम प्रसाद जीवन में शोषण, त्याग, प्रकृति, भ्रष्टाचार, पूंजीवाद, भूमण्डलीकरण, शासन तंत्र की परीक्षा देते-देते आज जीवन से हार गया। अब उसे आत्महत्या के सिवाय दूसरा रास्ता नहीं दिखा। राम प्रसाद के आत्महत्या की खबर जिला मुख्यालय तक बिजली की तरह कौंध गई। राम प्रसाद का गाँव मुख्यमंत्री जी का क्षेत्र था। सारे अधिकारियों के पांव फूल गए। सम्पूर्ण प्रशासन के साथ शासन के इशारे पर कुछ सामाजिक संगठन के लोग किसान की मृत्यु के कारण को दफन करने के लिए सक्रिय हैं जिससे नगर उत्सव कार्यक्रम में कोई बाँधान

आये। सारे अधिकारी राम प्रसाद के भाई भागीरथ को समझाने में लगे हैं-''देख भागीरथ अब जाने वाला तो चला गया उसको तो वापस ला नहीं सकते। अब आगे की सोचना है। उसके बच्चे हैं परिवार है और तुम्हारा भी तो परिवार है। सब कुछ देखकर ही चलना पड़ता है।''[११] राम प्रसाद की पत्नी कमला के ऊपर दुःख का पहाड़ टूट गया। वह जिन्दा होते हुए मर चुकी है। उसको आज आगे-पीछे कोई दिखाई नहीं दे रहा है उसकी हालत पागल जैसी हो गई है। महिला रिपोर्टर जब उससे पूछती है क्या वे पागल हो गए थे इसका उत्तर देते हुए कहती है ''अरी वो तो पागल हुई गया था। भोत दिन से पागल हुई गया था। पागल नही होता तो उसा करता कइ.....अरी वो तो पागल हुई गया था।''[१२] कमला अपनी मनोदशा को रो-रो कर बयाँ कर रही थी। कमला के आंखों के सामने पति राम प्रसाद की त्रासदी का एक-एक दृश्य बाइस्कोप की तरह सामने आ रहे थे।

पंकज सुबीर 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में अप्रत्यक्ष रूप से किसानोंमें अन्तर स्पष्ट किया है। कुछ किसानों के पास १०-२०-५०-१०० एकड़ जमीन होती है। ये बड़े किसान में गिने जाते है। पंकज सुबीर ने आम या साधारण किसान की चर्चा अपने उपन्यास में करते है। पाँच से सात एकड़ से कम जमीन वाले छोटे किसान को हर कोई निगलने या शिकार की नियति से देखता है जिसके दबाव में वह टूट कर आत्महत्या करके समस्याओं से मुक्ति पाना चाहता है। जिन्दगी प्रत्येक मोड़ अथवा निर्णय पर मानो आम किसान का इम्तिहान लेती है। केदार नाथ अग्रवाल ने आम किसान की दशा को अपनी कविता 'पैतृक सम्पत्ति' के माध्यम से व्यक्त करते हुए कहते हैं-

''जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने
घर का मलवा टूटी खटिया
कुछ हाथ भूमि-वह भी परती

x x x

बनिया के रूपयों का कर्जा
जो नही चुकाने पर चुकता

x x x

अब पेट खलाये फिरता है
चौड़ा मुंह बाये फिरता है
वह क्या जाने आजादी क्या ?
आजाद देश की बातें क्या ?''[१३]

यह कविता 'अकाल में उत्सव' उपन्यास के आम किसान की व्यथा को परिभाषित कर रही है।

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि'अकाल में उत्सव' उपन्यास में आम किसान के जीवन से जुड़े संत्रास, शोषण, भ्रष्टाचार, आत्महत्या में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक भूमिका को साफ तरीके से उजागर किया है। साधारण किसानों का खून धर्म के ठेकेदार, सूदखोर, सत्ताधीस आसानी से चूस लेते हैं, यह कहानी राम प्रसाद और उसके परिवार की ही नही है बल्कि इस देश के अनेक राम प्रसाद का नमूना है। इस भ्रष्ट व्यवस्था की डायन के सम्मुख अनेक रामप्रसाद अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए संघर्ष करते हुए हतास होकर आत्मसमर्पण कर देते है। इस प्रकार 'अकाल में उत्सव' उपन्यास साधारण किसान की दुर्दशा का सशक्त दस्तावेज है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, शिवना प्रकाशन (म०प्र०), छठवां संस्करण, २०१८ पृष्ठ ४२
२. प्रभा खेतान, बाजार की बीच बाजार के खिलाफ, पृ० १७
३. पंकज सुबीर, अकाल में उत सव, शिवना प्रकाशन (म०प्र०), छठवां संस्करण २०१८, पृष्ठ ६३
४. पूर्ववत् पृष्ठ १७०
५. पूर्ववत् पृष्ठ २७
६. पूर्ववत् पृष्ठ १२
७. पूर्ववत् पृष्ठ १३१
८. पूर्ववत् पृष्ठ १२
९. पूर्ववत् पृष्ठ १८३
१०. पूर्ववत् पृष्ठ १४८
११. पूर्ववत् पृष्ठ २१३
१२. पूर्ववत् पृष्ठ २२३
१३. आनलाईन गूगल क्रोम पेज, पैतृक सम्पत्ति, केदारनाथ अग्रवाल

-एन०ए०एस० कॉलेज, मेरठ
सम्बद्ध चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय
मेरठ (उ०प्र०)
शोध निर्देशक : डॉ० ललिता यादव

इम्तिहान से गुजरता हुआ नारी-जीवन

–नीलम साव

मनुष्य जीवन आसान नहीं होता, उसे कई कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक उसका जीवन निरन्तर समस्याओं से घिरा रहता है। खासतौर पर हमारा समाज दो वर्ग में विभाजित है नारी एवं पुरुष। दोनों के जीवन में इम्तिहान है, परन्तु पुरुष की तुलना में नारी-जीवन अत्यन्त कठिन है। सदियों से यह बात प्रचलित है, कि पुरुषों की अपेक्षा नारियों का जीवन कई संघर्षों से होकर गुजरता है जैसे- सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, मानसिक आदि। स्त्री का संघर्ष आज का नहीं है यह तो सृष्टि के प्रारम्भ से ही चला आ रहा है। चाहे वह 'श्रद्धा' हो जिसने मनु को जीवन का मूलाधार बताया या फिर रामायण की 'सीता' जिसे दोहरा वनवास मिला। ठीक वैसे ही ऋषि गौतम की बेगुनाह पत्नी 'अहल्या' को पत्थर की मूरत बनने का श्राप सहन करना पड़ा, यह संघर्ष पौराणिक काल से निरन्तर चला आ रहा है। आज के आधुनिक समय में जहाँ समाज बहुत प्रगति कर चुका है, परन्तु नारी की स्थिति कहीं न कहीं अब भी वैसी ही है।

साहित्य जगत् में नारी की दशा पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी लेखनी चलाई है। समाज में नारी की स्थिति एवं उसकी विडम्बना को दर्शाने के लिए कई रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में उसे अभिव्यक्त किया है। इन रचनाकारों ने उसे अभिव्यक्त करने के लिए साहित्य के अनेक विधाओं का सहारा लिया है जैसे- कहानी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा आदि। अगर नारी-जीवन की गहराई को समझना है, उसके संघर्षों के परतों से रूबरू होना है तो आत्मकथा ही सर्वोत्तम विधा है। इसमें उसका भोगा हुआ यथार्थ होता है, किसी भी तरह की काल्पनिकता नहीं होती। जीवन का कटुसत्य, उसके द्वारा झेला गया संघर्ष बखूबी उकेरा होता है। नारी के भोगे हुए व्यथा को एक नारी ही मार्मिक ढंग से समाज के सामने उजागर कर सकती है। इस विषय में सुधा सिंह कहती हैं- ''स्त्री आत्मकथा लिखते समय उसका विश्लेषण न करे, यह सम्भव नहीं है। स्त्री के सामने आत्मकथा लिखथे समय अजीवन द्वन्द की स्थिति होती है। जिसके बारे में लिख रही होती है, वह वो स्वयं होती है, जिस औजार के जरिए, लिख रही होती है यानि भाषा उसमें उसके अपने अनुभव के शब्द नहीं होते।''[१] समाज ने स्त्री को कभी 'सब्जेक्ट' की भूमिका में नहीं देखा, उसके लिए वह केवल ऑब्जेक्ट ही रही है। इसलिए चाहे

रचना हो या भाषा दोनों जगह उसे सही स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

हिन्दी साहित्य-जगत् में ऐसी कई महिला आत्मकथाकार हैं, जिन्होंने अपने जीवन के इम्तिहान को अपनी आत्मकथा के माध्यम से समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है।[1] जिनमें कृष्णा अग्निहोत्री, मनु भण्डारी, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आदि उल्लेखनीय हैं। कृष्ण अग्निहोत्री एवं प्रभा खेतान दोनों ही बेहद सम्पन्न परिवार से थीं परन्तु दोनों का वचपन सुखद नहीं रहा। भरे-पूरे परिवार में दोनों लेखिकाओं ने अकेलापन महसूस किया है। प्रभा खेतान स्पष्ट से स्वीकारती हैं कि उनका बचपन अनार्थों-सा रहा है, क्योंकि माँ का प्यार उन्हें कभी नहीं मिला। बहुचर्चित लेखिका कृष्णा अग्निहोत्री का बचपन लगभग प्रभा खेतान जैसा ही रहा। वे भी अपनी माँ की लाड-दुलार से वंचित रहीं। कृष्णा अपने बचपन के अनुभव को साझा करती हुई लिखती हैं- ''प्रत्येक बात पर मुझे डांटा जाता। इतनी बड़ी घोड़ी हो गई अपने आप नहाओ, अपना फ्रॉक धोओ, झाड़ू लगाओ, अपने छोटे भाई-बहन को गोदी उठाओ, बहलाओ आदि। छोटी-सी तकलीफ में भी माँ आपा खो बैठतीं। उनका गुस्सा तेज था। पिता से तो कुछ अधिक न कह पातीं, मुझे थप्पड़ रसीद कर देतीं। बेलन फेंक कर मारतीं। ऐसे ही न जाने किसी गलती पर उन्होंने लोहे के चिमटे से मुझे मारा। मेरे अँगूठे का पूरा नाखून उखड़ गया। खून से सराबोर मुझे ऑपरेशन थियेटर ले जाया गया।''[2] जिस उम्र में बच्चे अपने माता-पिता के लाड-दुलार से अभिभूत रहते हैं, उस उम्र में इन लेखिकाओं ने अकेलापन और दुत्कार सहन किया।

वैवाहिक जीवन की बात करें तो चाहें वह कृष्णा अग्निहोत्री हो, मन्नू भण्डारी या फिर चन्द्रकिरण सौनरेक्सा सभी का अनुभव कसेला रहा है। सभी लेखिकाएँ अपने गृहस्थ जीवन में कई कठिनाईयों से जूझती हैं। कृष्णा अग्निहोत्री के पति आई०ए०एस० जैसे ऊँचे पद पर आसीन होते हुए भी एक स्त्री का सम्मान नहीं करते। सम्मान करना तो दूर की बात की है, अपितु उसे इन्सान तक नहीं समझते। उनके पति के भीतर अनेक विकृतियाँ थीं जैसे शराबी और अय्याश थे। अपने झूठे अहम् को पूरा करने के लिए किसी भी हद से गुजर जाते थे। लेखिका सदैव वह सबकुछ करती जो एक कुशल गृहणी एवं पत्नी को करना चाहिए, पर उनके पति कभी खुश नहीं होते थे। कृष्णा अग्निहोत्री के पति मानसिक तौर से इतने विकृत थे कि किसी भी स्त्री से अनैतिक सम्बन्ध बनाने से पीछे नहीं हटते थे। ऊपर से लेखिका को मारना-पिटना, गाली-गलोच करना, उनके साथ जोर-जबरदस्ती करना अपना अधिकार समझते थे। उनके पति कृष्णा से कहते हैं- ''तुम मेरी सुन्दरता के माप में फिट नहीं बैठती। उस पर तुम्हें अच्छी अंग्रेजी बोलना भी नहीं आता और कामसूत्र के पहलू भी तुम नहीं जानती।

कैथरीन इन सब गुणों में खरी है। यदि वह जीवनपर्यन्त मेरी मिस्ट्रेस बन रह गई तो कोई बात नहीं, अन्यथा मैं तुम्हें तलाक दे उससे ब्याह कर लूँगा।''[३] यह एक परम्परागत सामन्तवादी पुरुष के सोच को उजागर करता है जो निजी अभिलाषा की पूर्ति करने के लिए अपने वैवाहिक जीवन की तिलांजलि देने से पीछे नहीं हटता। दाम्पत्य जीवन का सुख कथाकार चन्द्रकिरण सौनरेक्सा को कभी नहीं मिलता। गृहस्थी की गाड़ी को चलाने में पति-पत्नी दोनों का समान रूप से योगदान होना चाहिए, परन्तु इनकी स्थिति इससे विपरीत थी। पति अत्याधिक दोस्तपरायण थे। जिस कारण आये-दिन लेखिका को आर्थिक तंगी से गुजरना पड़ता था। इनके पति पी०सी०एस० जैसे पद पर नियक्त थे। उनका भी कई स्त्रियों के साथ अनैतिक सम्बन्ध रहा। पुरुष स्त्री को अपनी दासी समझता है। उसे लगता है वह चाहे कुछ भी करे पर स्त्री कभी उनका साथ नहीं छोड़ेगी। पुरुष हर तरह से स्त्री को मानसिक पीड़ा पहुँचाकर अपनी पितृसत्तात्मक अहम् की पुष्टि करना चाहता है।

नारी केवल पारिवारिक जीवन में ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन में भी संघर्ष करती है। हिन्दी की प्रख्यात लेखिकाएँ अपने कार्यक्षेत्र तथा साहित्य-जगत् में भी कई दुराहों से गुजरती हैं। लेखिका चन्द्रकिरण सैनरेक्सा के साहित्यिक जीवन को हानि किसी और ने नहीं अपितु उनके पति ने पहुँचाई है। पति के शंकालु व्यवहार के कारण वे अपनी रचनाएँ उन्हें छपवाने के लिए दे देतीं। परन्तु उनके पति उसे किसी अज्ञात पत्रिका में छपवा देते जिससे लेखिका की रचना सही पाठकों एवं उनके प्रशंसकों तक नहीं पहुँच पाती। इस विषय में वे लिखती हैं कि- ''कान्ति जी यह भूल गये कि प्रकाशक पैसों से चाहे ठग लेते, पर मेरे नाम का, यश का हरण तो नहीं कर सकते थे, दम्भ तो नहीं करती, परन्तु तथ्य अभिव्यक्ति तो कर सकती हूँ। तेरह वर्ष की उम्र से आज तक जितना लेखन कार्य मैंने किया है। उसका पचास प्रतिशत भी अगर समग्र रूप से उपलब्ध होता तो आज मैं भी राज्य सभा की मनोनीत सदस्य होती, अकादेमी की अवैतनिक अध्यक्ष होती।''[४] साहित्य-जगत् में कृष्णा अग्निहोत्री की बहुत उपेक्षा हुई है। उनके साहित्य का मूल्यांकन सही तौर से नहीं हो पाया। साहित्य-जगत् में ऐसे बहुत से सामन्ती सोच के निर्वाहक थे, जिन्होंने सदैव उन्हें अपमानित किया एवं उनकी रचनाओं को छोटा समझा। इस विषय में प्रभा खेतान अपनी पुस्तक 'उपनिवेश में स्त्री' में लिखती हैं- ''पुरुष आलोचकों को स्त्री लेखन की विषय वस्तु बहुत ही सीमित लगती है। माना कि लेखकीय निखार अभ्यास और साधना पर आधारित हैं, मगर यह एक सवाल भी है कि क्या केवल अभ्यास करने से ही और प्रेमचन्द, अज्ञेय हो जायेगी? क्या वह वर्गीय द्वेष उपेक्षा की शिकार नहीं होगी? साहित्य की दुनिया में चरित्र हनन तो एक साधारण बात है।

पुरुष अपनी शॉवनिस्ट प्रवृत्ति के कारण बड़ी सूक्ष्मता से लेखिका के जीवन अनुभवों का अवमूल्यन कर देता है।''[५] कार्यक्षेत्र में भी इन लेखिकाओं का उचित सम्मान नहीं हुआ। यहाँ पर भी उनका जितना दमन किया जा सकता था, उतना दमन किया गया है। इस विषय में बहुचर्चित स्त्रीवादी लेखिका प्रभा खेतान कहती हैं कि- ''दुनिया घूमते हुए मैंने यही पाया कि औरत के काम के घण्टे पुरुष की तुलना में ज्यादा हैं। दुनिया में दो तिहाई काम औरतें करती हैं, लेकिन दुनिया की सबसे गरीब कौम औरत ही है। पूँजी के प्रभुत्व का शिखर होने के बाद भी भूमण्डलीकरण इन नारी-विरोधी यथा स्थिति को बदल नहीं पाया है। दरअसल वह तो इस स्थिति का लाभ ही उठाता दिख रहा है।''[६]

सभी लेखिकाओं का जीवन हर मोड़ पर किसी-न-किसी इम्तिहान से तो गुजरता ही रहा पर वे कभी हार नहीं मानी। जिस तरह नदी अपने लिए रास्ता बना लेती है ठीक उसी तरह स्त्री भी अपने जीवन की सार्थकता पहचान लेती है। हिन्दी साहित्य जगत् में महिला आत्मकथाकारों ने उस सफलता को हासिल किया है जिसकी वे अधिकारी हैं। साथ ही उन्होंने इस समाज में स्वयं को स्थापित कर यह सिद्ध कर दिया है, कि नारी चाहे तो दुर्गम से दुर्गम परिस्थितियों में भी अपने अस्तित्व का बचाव कर सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. सिंह, सुधा ब्लॉग, हस्तक्षेप, जिन्दगी के विस्तार का लेखन है स्त्री आत्मकथा
२. अग्निहोत्री, कृष्णा, लगता नहीं है दिल मेरा, सामयिक बुक्स, २०१६, पृ० २१
३. अग्निहोत्री, कृष्णा, लगता नहीं है दिल मेरा, सामयिक बुक्त, २०१६, पृ० १३६-१४०
४. सौनरेक्सा, चन्द्रकिरण, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय पेपरबैक्स, २०२२, पृ० ३३८
५. खेतान, प्रभा, उपनिवेश में स्त्री मुक्ति-कामना की दस वार्ताएँ, २०२१, पृ० ४७
६. खेतान, प्रभा, 'हंस की नारीवादी उड़ान', हंस, मार्च २००१, पृष्ठ १२

-शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
रवेंशॉ विश्वविद्यालय,
कटक-७५३००३ (ओड़िशा)
शोधनिर्देशक-अंजुमन आरा

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में स्त्रियों की दशा एवं समाज की बदलती परिस्थितियाँ

–अभिषेक रावत

हिन्दी साहित्य के गद्य विधाओं में हिन्दी नाटक एक सशक्त साहित्यिक विधा के रूप में प्रस्तुत होता है। नाटक लेखन की परम्परा अत्यन्त पुरानी है। अग हम प्राचीन नाटक की बात करें तो 'भास' और 'महाकवि कालिदास' का नाम सर्वप्रथम आता है। परन्तु इनके द्वारा लिखे गये नाटक संस्कृत में हैं। हिन्दी में नाटक लिखने की परम्परा का सूत्रपात 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी' से ही मानना चाहिए, जिसमें हम देखते हैं, कि नाटक ही वह विधा है जिसमें हम समाज की अच्छाई-बुराई, सामाजिक कुरीतियों, विभिन्न प्रकार की विसंगतियाँ पढ़ने के साथ-साथ हम नाट्यमंचन के माध्यम से देख-सुन सकते हैं और इन सभी प्रकार की समस्याओं पर व्यंग कर सकते हैं।

इस बात की ओर ध्यान दिलाना होगा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ में नाटक के उदय का विवेचन करते हुए 'रामचन्द्र शुक्ल' ने अपने इतिहास में 'आधुनिक गद्य साहित्य परम्परा का प्रवर्तन' शीर्षक पर परिच्छेद के अन्तर्गत लिखते हैं, ''विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ है।'' यहाँ विलक्षण बात क्यों है इसकी कोई व्याख्या आचार्य ने नहीं दी।[1]

इस परम्परा को आगे बढ़ाने में प्रमुख नाटककारों में सुरेन्द्र वर्मा जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुरेन्द्र वर्मा आधुनिक युग के प्रयोगशील नाटककार हैं, मोहन राकेश के बाद सुरेन्द्र वर्मा के नाटक हिन्दी नाटक और रंगमंच को नई दिशा प्रदान करते हैं। नाटक को हिन्दी साहित्य में अपने परिवेश को लेकर कदम-दर-कदम सिलसिलेवार से शिखरों तक पहुँचाने वाले सुरेन्द्र वर्मा जी का जन्म ७ सितम्बर, १९४१ को झाँसी में हुआ और अपनी शिक्षा-दीक्षा भाषा विज्ञान से परास्नातक करने के बाद अपना अध्ययन-अध्यापन समाज की विसंगतियों पर अपनी लेखनी चलाने को मजबूर हो जाते हैं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार सुरेन्द्र वर्मा ने अपने श्रेष्ठ नाटकों के माध्यम से समाज में ख्याति प्राप्त नाटककार का स्थान प्राप्त करते हैं। उन्होंने अपनी लेखनी न केवल नाटक पर चलाये, अपितु कहानी, उपन्यास, कविता, व्यंग

समीक्षा जैसी अन्य विधाओं में भी बड़ी सजगता के साथ सामाजिक समस्याओं को समय-समय पर उजागर किया है।[२]

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विसंगतियों के साथ-साथ स्त्रियों की यौन चेतना के चित्रण के साथ कतिपय स्थलों पर उसकी जनाकांक्षा, विडम्बना व विद्रूपता का भी प्रयोग हुआ है। जिसमें विचार और व्यवस्था विमर्श की उपस्थिति है। वे ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने समाज में स्त्रियों की दशा और दिशा पर अपने विचारों को पल्लवित करने से नहीं चूकते हैं। वे ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने किनारे बैठकर जीवन की थाह को नहीं समझा, बल्कि वे गहरे उतरते हैं और जीवन की ऊपरी चकाचौंध के भीतर स्याह अंधेरे को बखूबी बयां करते हैं।

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के केन्द्र में तत्कालीन समय के विसंगतियों की रूपरेखा देखने को मिलती है। जिसमें नाटकों की कथावस्तु में समाज में फैले भ्रष्टाचार, भेदभाव, स्त्री-पुरुष सम्बन्दों में आने वाली दूरियां और खालीपन तथा ऊब को उन्होंने विविध प्रकार से व्यक्त किया है। उनके अधिकतर नाटकों में एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और व्यक्तित्व, मिथकीय आख्यान और सन्दर्भ, तत्कालीन परिवेश आदि विचारों को लेकर अपनी लेखनी के प्रति अडिग रहा करते थे। प्राचीन और नवीन विचारधाराओं की विराट समन्वयता की झलक देखने को मिलती है। जिसमें प्राचीन कलेवर लिये हुए भी सभी नाटक आधुनिक संवदना से परिपूर्ण है।

जैसे-समाज में परिवार-विघटन, देहज प्रथा, स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्ध, शोषित नारियां, शासन-प्रशासन तन्त्र की चाल, नैतिकता का ह्रास, एक पक्षीय अपराध पूर्ण राजनीतिक, धार्मिक समस्याएँ आदि पर अपनी लेखनी के माध्यम से इन विसंगतियों पर व्यंग्य किया है। और इन समस्याओं को समाज के सामने यथार्थ रूप से लाने का पूर्ण प्रयास किया है। जैसे कि हम इनके विभिन्न नाटकों के माध्यम से जान सकते हैं।

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में 'द्रौपदी' नामक नाटक में वर्मा जी ने स्त्री के समस्त जीवन के उतार-चढ़ाव को भली-भाँति स्थापित किया है। इस नाटक की नायिका सुरेखा के माध्यम से इस आधुनिक वैश्विक परिस्थितियों में एक साधारण गृहणी या घर में सब कुछ रहने के बावजूद भी एक साधारण स्त्री संघर्षपूर्ण जीवन बिताने को विवश है। द्रौपदी एक पौराणिक कथा पात्र है, जिसे सुरेन्द्र वर्मा जी ने सुरेखा नामक पात्र को आधुनिक रूप में प्रस्तुत किया है। इस नाटक की द्रौपदी अर्थात् सुरेखा अपने पति मनमोहन को पाँच खंडों में विभाजित दिखायी पड़ती है। इस नाटक को समकालीन व्यक्ति की विकल्पहीन व्यवस्थाओं का सुन्दर अंकन हुआ है। पति-पत्नी रूपी दो प्राणी पहले प्रेम फिर उपेक्षा दुख से गुजरते हुए जीवन के अन्त तक पहुँचते

हैं। जिसमें न कुछ कहना, न कुछ सुनना, यथास्थिति को स्वीकार करते हुए रहना तथा एक दूसरे को झेलते रहने का भाव मुख्य हो जाता है। इस प्रकार हम स्त्रियों के जीवन में हो रहे ऊहा पोह या उतार-चाव को इस नाटक के मुख्य अंश के रूप में देख सकते हैं- ''सुरेखा : (दोनों कानों पर हाथ रख, ऊँचे स्वर में)। ऐसे पाप की बोल मत बोलो। मेरा रोम-रोम सुलगने लगा है तुम्हारी बातें सुनकर (लपक कर मनमोहन के पास आती है।) क्यों जी तुम इस तरह चुप क्यों बैठे हैं? उनसे कुछ कते क्यों नहीं? गला क्यों नहीं पकड़ते? धक्के मारकर बाहर क्यों नहीं निकलते? (मनमोहन दोनों हाथों में मुँह छिपा लेता है।) बोले बोलते क्यों नहीं?''[३]

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा जी ने अपने नाटक 'सूर्य की अन्तिम किरण से लेकर सूर्य की पहली किरण तक' में स्त्री की मुक्तिचेतना या स्वतन्त्रता, शीलता, अश्लीलता अपने आत्मसम्मान के लिए अडिग रहना इत्यादि को केन्द्र में रहकर लेखनी अनवरत चलाने का प्रयास किया है। इस नाटक को सुरेन्द्र वर्मा जी ने ऐस कालखण्ड मं स्थापित किया है जब देश में नियोग की प्रथा प्रचलित थी। (नियोग का अर्थ है किसी विवाहित स्त्री का किसी परपुरुष के साथ सम्बन्ध बनाना सिर्फ एक मकसद से सन्तान प्राप्ति के लिए) वर्मा जी ने राजा ओक्साका और रानी सीलवती के माध्यम से विभिन्न प्रकार की विसंगतियों को दिखाया है। जिसमें नियोग प्रथा आज के आधुनिक युग में भी उसकी प्रज्वलता की प्रासंगिकता दिखायी पड़ती है। जिसमें नपुंसकता के शिकार राजा अपने वंश को आगे बने के लिए अपनी पत्नी को एक रात के लिए किसी पराये मर्द के साथ भेज देता है। जिसमें यह देखा जाता है कि अपने मान-सम्मान के लिए एक पुरुष देवी रूपी स्त्री के चरित्र को कलंकित करवा देता है। इस प्रकार वर्मा जी ने इस प्रकार की विसंगति को अपने नाटक भी समाहित किया है- ''ओक्साका हाँ.... तभी एक सप्ताह से तुम्हारे दरअसल भी नहीं हुए। जिस दिन से घोषणा प्रारम्भ हुई थी, ठीक उसी दिन से...।

शीलवती- (करुण स्वर में) मैं तुम्हारे सामने कैसे आ सकती थी?... मुझे अपने आप को तैयार करना था.... सारे संस्कारों की जाल छिन्न-भिन्न करके, मूल्यों और मर्यादाओं को तोड़कर, अपना पूरा मनोबल इकट्ठा करके मुझे आज की इस घड़ी तक पहुँचना था। उसके लिए दूसरी आवश्यक थी, अनिवार्य थी।''[४]

इस प्रकार वर्मा जी ने समाज की बदलती परिस्थितियों एवं स्त्रियों की दशा एवं परिवारिक जन समस्या को विभिन्न नाटकों के माध्यम से समाज में जन चेतना फैलाने की पूरी कोशिश की है। इस पंक्ति में सुरेन्द्र वर्मा जी का एक नाटक है 'सेतुबंध' जिसमें उन्होंने दिखाया है कि कैसे एक प्रेमी-प्रेमिका के बीच में पारिवारिक बंधन अैर सामाजिक अन्याय के मुद्दों को सम्बोधित करता है। जो आर्थिक बाधाओं को पार करके और हो रहे अन्याय एवं भेदभाव को

उजागर करता है। सुरेन्द्र वर्मा जी ने नाटक की नायिका 'प्रभावती' और नाटक 'प्रवरसेन' के माध्यम से दिखाया है कि प्रभावती एक ऐसी महिला के रूप में चित्रित की गयी है कि जो बिना पत्नी बने माँ बन जाती है। और अपने पुत्र से सन्तुष्ट हैं, लेकिन परिवार से दूर हो जाती है। और कालिदास ऐसा पात्र है कि जो धार्मिक रूढ़िवादी और राजनीतिक दबाव से ग्रस्त है।

जो अपनी प्रतिभा के साथ-साथ अपनी कमजोरियों को भी प्रदर्शित करता है। जिसका वर्मा जी ने मार्मिक चित्रण किया है। ''प्रवरसेन : रामगिरी में कुछ चैन तो मिला होगा?

प्रभावती : (मुड़ती है) क्यों नहीं?.... रामगिरी में हमेशा मुझे शान्ति मिलती है। जीवन के... (अटक जाती है कुछ ठहर कर) कितनी बार वहाँ आश्रय लिया है.... ब्याह के बाद प्रारम्भिक वर्षों की एकरसता में.... पति के देहान्त के बाद उत्तरदायित्वों के तनाव में.... कुन्तलेश्वर के आक्रमण के बाद, आतंक में... और अब.... ..(विराम। धीरे-धीरे) अक्सर सोचती हूँ।''[५]

विभिन्न प्रकार की समस्याओं से समाज में स्त्रियों के जीवन की आन्तरिक पीड़ा या उनके प्रेम सम्बन्धी इच्छाओं के बीच में पौराणिक और आधुनिक विचारधाराओं से स्वतन्त्र जीवन में जो समाज के लोगों के द्वारा ठेस पहुँचाया जाता है। वे स्त्री अपनी इच्छाओं को अन्दर ही अन्दर दबा कर रोगग्रस्त की तरह होने के भी बावजूद अपने आप को सजग एवं सहनशील प्रदर्शित करती रहती है। जो हम सुरेन्द्र वर्मा जी के नाटक 'शकुंतला की अंगूठी' में देख सकते हैं कि वर्मा जी ने शकुंतला और दुष्यंत नामक पात्रों के माध्यम से यह दिखाया कि नायक और नायिका के अद्‌भत प्रेम के बीच में ऋषि दुर्वासा के श्राप की वजह से दोनों के बीच में अलगाव और अन्त में मिलन के बीच में जो विडम्बनाएँ और उतार-चढ़ाव आते हैं। उसी को केन्द्र में रखकर सुरेन्द्र वर्मा जी ने अपने नाटक 'शंकुतला की अंगूठी' के माध्यम से लोगों में हो रहे स्त्री संघर्ष को दिखाने या जन चेतना फैलाने का पूरा प्रयास किया है। जो हम इस नाटक में देख सकते हैं- ''कुमार : उसके चले जाने से लता मण्डप कैसे सूना लगने लगा. ... (बीचे देखता है। उठाने का मुकाभिनय करता है।) उसकी कलाई से गिरा यह मृणालवलय जिसमें उसके शरीर के लोप की गन्ध समाई है। यह वलय नहीं है, एक सांकल है। जो उसने जाते हुए मेरे मन पर लगा दी।

कनक : ओह वलय नीचे जा गिरा और मुझे पता भी नहीं चला।''[६] समाज में फैले जनजीवन के पारम्परिक प्रथाओं समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आपसी मेल-मिलाप, भेदभाव इत्यादि समाज में लोगों को बीच में देखने को मिलता है। इसी रूप में सुरेन्द्र वर्मा जी का 'आठवाँ सर्ग' नामक नाटक में कालीदास और उनकी पत्नी प्रियंगुमंजरी के प्रेम और वैवाहिक जीवन को दिखाया गया है। कालीदास को साहित्य के प्रति प्रेम और

श्रृंगारिक विषयों का चित्रण साथ-ही-साथ समाज की रूढ़िवादी विचारों से जूझने और उसके प्रति संघर्ष का चित्रण भली-भाँति किया है। इस नाटक में आधुनिक जीवन में समाज के बदलते मूल्यों और रूढ़िवाद के खिलाफ एक आवाज उठाता है। नायक-नायिका और समाज के बीच में हो रहे विचारधाराओं का आपसी मतभेद से छुटकारा पाने में प्रेम, श्रृंगार और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बारे में सवाल उठाता है। जिसका चित्रण इस नाटक में हम देख सकते हैं- ''प्रियंगु मंजरी : कहाँ थे अब तक?..... (बाहें थाम लेती है। उससे सट जाती है। मैं इतनी डर गयी थी.....

कालिदास : (स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरता है पाण्डुलिपि चौकी पर रख देता है।) नगर के बाहर चला गया था.....शिप्रा के निर्जन लट पर..... गहरा अंधेरा था वहाँ और गहरी शा्ति..... ऊपर घने बादलों में चन्द्रमा का हल्का-सा आभास और सामने बहुत दूर पर्वत श्रेणियों के धुँधले चढ़ाव-उतार हवा रुकी थी।''७

सुरेन्द्र वर्मा जी आधुनिक परम्परावादी और मानवता के प्रति आस्था रखने वाले प्रभावशाली व्यक्ति हैं। जिन्होंन अपने नाटकों की कथानक में कथ्यगत दृष्टिकोण से पकड़ बनाये रखते हैं। और नाटक के अन्त में कुछ नया देने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं। और अर्थहीन आदर्शवाद का पर्दाफाश करने से नहीं चूकते हैं। जीवन में व्याप्त वैषम्य, अभाव, स्वतन्त्रता, आक्रोश और कुण्ठाओं को अपने नाटकों में समाहित किया है। जो कि उनके सभी नाटक घटनाओं और चरित्रों के नाटक न लगकर वे समय-विशेष स्थितियों के नाटक लगते हैं। इसलिए सुरेन्द्र वर्मा जी के नाटकों का शिल्प विधान लोगों में नई सर्जनात्मकता से उद्‌भूत होते हैं। भाषा और शैली के माध्यम से आधुनिक विसंगतियों को लोगों के सामने लाने का भरसक प्रयास करते हैं।

निष्कर्ष- अतः हम देख सकते हैं कि सुरेन्द्र वर्मा जी क अपने नाटकों में समकालीन जीवन की यथार्थवादी, अभिव्यक्ति, स्त्री चेतना एवं उनके जीवन के संघर्षों का समाज में क्या स्थिति है। अपने आत्मसम्मान के प्रति हो रहे दुराचार एवं कलंकित कर देने वाली विचारधारा से संघर्ष करना दिखाया है। जो पारिवारिक विघटन और व्यक्ति व्यवस्था के संघर्ष में निहित है। जिसमें आधुनिक जीवन और परेशानियों, नैतिक मूल्यों का पतन, बदलते पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक मूल्यों, प्रेम के नये रूपों, जीवन की चुनौतियों का बेबाक रूप से अपने नाटकों में भली-भाँति दर्शाते हैं। और आधुनिक जीवन में लोगों में सजगता और सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व लाने में सफल भी होते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास- राम स्वरूप चतुवेदी, लोकभारती प्रकाशन, १५, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१, पृष्ठ १७३

२. सुरेन्द्र वर्मा की नाटकों का अनुकूलन- डॉक्टर जयश्री सिंह, प्रकाशक ज्ञान प्रकाशन, १२८/६० जी ब्लॉक, किदवई नगर, कानपुर-२०८०११, पृष्ठ ५६

३. द्रौपदी (तीन नाटक)- सुरेन्द्र वर्मा, ४६६५, २१ए, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-१०००२, पृष्ठ ७५

४. सूर्य की अन्तिम किरण से लेकर सूर्य की पहली किरण तक- सुरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक भारतीय ज्ञान पीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली, पृष्ठ २६

५. सेतुबन्ध (तीन नाटक) सुरेन्द्र वर्मा, वाणी प्रकाशन, ४६६५, २१ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ २६

६. शकुंला की अंगूठी- सुरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक भारतीय ज्ञान पीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली, पृष्ठ ५४

७. आठवाँ सर्ग- सुरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक भारतीय ज्ञान पीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली, पृष्ठ ४१

-शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद
मो०: ७६७८८०७६३४

साहित्य एवं सिनेमा में दलित दृष्टि

–शेखर चौधरी

यहाँ दलित संदर्भ में बात करना ठीक होगा, क्योंकि यह समस्या कोई क्षेत्र विशेष की नहीं है; अपितु पूरे भारत में आज भी कई रूपों में वैसे ही व्याप्त है, जैसे कई सदियों से रूढ़ासीन थी। दलित विमर्श कोई शुद्ध साहित्यिक या शुद्ध सिनेमाई सिद्धांत नहीं है। यह विमर्श, पहले समाज के उत्पीड़न के कारण, बाद में संघर्ष एवं आंदोलन का स्वरूप ग्रहण कर लेने के बाद साहित्य और सिनेमा में मुखरित हुआ है। दलित साहित्य कोई आभिजात्यता लिए हुए नहीं है, रूढ़िग्रस्त या परंपरागत नहीं है; यह जन साहित्य है, जो संघर्ष व आक्रोश की देन है। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि "दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर। सिर्फ इतना ही नहीं; लिटरेचर आफ एक्शन भी है, जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामन्ती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोशजनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य।"[१] यह भी कहा जा सकता है कि इस विमर्श ने अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न माध्यमों की खोज की है और सशक्त रूप में उभरकर सामने आया। इस विमर्श के सामने इन माध्यमों में स्थापित होने की चुनौतियां भी कम नहीं थी। साहित्य में कई आलोचनाओं, विवादों व संघर्षों के बाद एक दलित-विमर्श चल पड़ा; किंतु सिनेमा में यह हो नहीं पाया। एक तो सिनेमा काफी महंगा माध्यम रहा है और यह केवल एक व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता, इसलिए इसे कई और चीजें भी प्रभावित करती रही हैं; जैसेः- बाजार एवं औद्योगिकीकरण।

हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श दूसरी भाषा के साहित्यों से प्रभावित होकर आया। ऐसा नहीं है कि हिंदी के दलित साहित्य में मौलिकता नहीं है; फिर भी इतने बड़े प्रभावित क्षेत्र के बाद भी दलित साहित्य की शुरुआत मराठी साहित्य से होती है। इसके कई कारण हैं- एक तो महाराष्ट्र में दलितों का शोषण अपने चरम स्तर पर था। इसका सबसे अच्छा प्रमाण दया पंवार की रचना 'अछूत' को लिया जा सकता है। दलितों से जुड़े सामाजिक सुधारों में ज्योतिबा फुले व सावित्री बाई फूले का हाथ रहा, जिनका कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र था और बाद में बाबा साहेब अम्बेडकर ने भी अपना अधिकांश कार्य महाराष्ट्र से ही संचालित किया। ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं- "वास्तव में डॉ. अम्बेडकर और महात्मा ज्योतिबा फुले के विचारों की प्रखर शक्ति पाकर दलित साहित्य आन्दोलन प्रगति की ओर निरन्तर बढ़ रहा है।"[२]

दलित शोषण की समस्या भारत की एक गंभीर आंतरिक समस्या थी। दलित, हिन्दू धर्म

में अपने को फिट नहीं मानता। डॉ. अंबेडकर इस बात के पक्षधर हैं और मानते हैं कि हिन्दू धर्म का ढांचा लोकतांत्रिक नहीं है। नरेंद्र जाधव की पुस्तक 'वनजेपकम' में भी इस विषय पर गंभीरता से बात की गई है। भारतीय समाज या कहें हिंदू धर्म की यह बड़ी विडंबना है कि जन्म के आधार पर यह निश्चित कर दिया जाता है कि किसे, कितना अधिकार मिलेगा। एक सवर्ण जाति में जन्मे बालक को स्वतः ही बिना किसी प्रयास व संघर्ष के वे सभी अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, जो एक दलित बालक को अपने पूरे जीवन काल में अपनी पूर्णशक्ति खो देने के बाद एवं संघर्ष के बाद भी नहीं मिलते। डॉ. अम्बेडकर व उनके संवैधानिक प्रयासों के बाद दलित जातियों को अधिकार तो मिले, किंतु सामाजिक भाईचारा व आज़ादी नहीं, इसलिए अंततः डॉ. अंबेडकर भी दलितों को धर्म परिवर्तन का रास्ता दिखाते हैं।

साहित्य में जहां दलित साहित्य की शुरुआत मराठी साहित्य से होती है, वहीं सिनेमा में पहली दलित फिल्म 'अछूत कन्या' हिन्दी में बनती है। क्या वाकई में यह एक हिन्दी फिल्म है। इसके पीछे कई और पहलू देखने चाहिए। १९१३ से १९३१ ई. तक का भारतीय सिनेमा किसी एक भाषा का नहीं कहा जा सकता। ये फिल्मी प्रयोग थे, जो या तो कलकत्ता में हो रहे थे या फिर मुंबई में। जब १९३१ से फिल्म भाषाई स्वरूप में आने लगी, तब हिन्दी के पास दर्शक शक्ति अन्य भाषाओं की तुलना में अधिक थी। वरन् यह पहली फिल्म भी मराठी में बनती तो कोई आश्चर्यजनक बात न होती। यह पहली दलित फिल्म भी मूलतः भारतीय नहीं हैं, क्योंकि इस फिल्म के निर्देशक 'फ्रेंज ऑस्टन' एक विदेशी (जर्मन) थे। सही मायने में दलित फिल्में हिंदी सिनेमा में केवल समांतर दौर की ही देन है, शेष सिनेमाई इतिहास में दलित फ़िल्मों का पक्ष काफी कमजोर दिखाई देता है; इसलिए हिन्दी साहित्य में दलित धारा की तरह हिंदी सिनेमा में कोई स्पष्ट दलित धारा दिखाई नहीं देती।

साहित्य में दलित लेखकों की दो धाराएँ प्रायः दिखाई देती हैं। एक वह धारा जहां अम्बेडकरवादी विचारधारा को आधार माना जाता है और दूसरी वह जो मार्क्सवादी विचारधारा को आधार मानती हैं; लेकिन मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित दलित साहित्य में अम्बेडकरवादी विचारधारा के पहलू अपने आप ही आ जाते हैं, क्योंकि दोनों धाराएं मूलतः जाति व्यवस्था के विरोध में ही तो खड़ी हैं। इसलिए २१वीं सदी के प्रायः सभी दलित लेखक किसी भी विचारधारा के फेर में न पड़ते हुए अपना स्वायत्त लेखन करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वे अपने मूल में अम्बेडकर से अपने विचार ग्रहण करते हैं। हिंदी सिनेमा में ऐसी कोई विचारधारा देखने को नहीं मिलती है। अगर कोई विचारधारा है तो वह सवर्ण मानसिकता से आरोपित विचारधारा है। १९५९ ई. में आयी फिल्म 'सुजाता' इसका अच्छा उदाहरण है, जो विमल राय द्वारा बनाई गई। यह मानसिकता आज तक हिंदी सिनेमा में आरोपित है। इसका

ताजा उदाहरण है- २०२३ की फिल्म 'गुठली-लड्डू'। जो 'इशरत खान' द्वारा निर्देशित है। दोनों जगह गांधी का 'हरिजन' मौजूद है, लेकिन 'दलित' कहीं दिखाई नहीं देता। दोनों ही जगह गांधी के आदर्श, जैसे हृदय परिवर्तन आदि प्रस्तावित हैं। ७० के दशक के समांतर आंदोलन में जो सिनेमा में दलित संघर्ष या समस्या दिखती है वह मार्क्सवादी अधिक है। अंकुर (१९७४), मंथन (१९७६), आक्रोश (१९८०), सद्गति (१९८१), दामुल (१९८५) आदि कुछ ऐसी ही फिल्में हैं। डॉ. रमा लिखती हैं- "इस समय के सिनेमा की एक खासियत और है कि फिल्मों में असली भारत की तस्वीर दिखी। लोक जीवन, लोकभाषा, लोक गीत, खेत-खलिहान, गांव, किसान सभी के लिए स्पेस बनाया गया, जो सुखद है।"[३] इस आंदोलन को देखने पर लगता है कि आज के हिंदी सिनेमा की दशा व दिशा क्या हो गई है?; यह एक चिंता का विषय है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में जो दलित विमर्श दिखाई देता है, उसका वैसा स्वरूप सिनेमा में नहीं दिखाई देता।

दलित साहित्यकारों ने काफी विरोधों व आलोचनाओं के बाद साहित्य में एक नई धारा को स्थापित करने का सफल प्रयास किया। साथ ही पारम्परिक साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र को नकार दिया जिसके द्वारा तत्कालीन आलोचक उनकी दलित रचनाओं की आलोचना कर रहे थे। ओम प्रकाश वाल्मीकि व शरण कुमार लिंबाले जैसे दलित लेखकों ने दलित साहित्य के लिए अलग सौन्दर्यशास्त्र की मांग की और इसी प्रयास में 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' नाम से अपनी-अपनी पुस्तकें प्रकाशित करवायी। हूबनाथ का विचार है कि "इसलिए दलित साहित्य, साहित्य की परम्परागत परिभाषा के पैमाने के आधार पर साहित्य नहीं है, बल्कि सदियों से अन्याय व असमानता के नरक में पलते बेकसूर, बेजबानों के अन्तर का हाहाकार है, जो सदियों तक पकते-पकते तेजाब बन चुका है और आक्रोश बनकर उफन रहा है। इस साहित्य से हम धीरता, गम्भीरता, शालीनता, सभ्यता और सौन्दर्य प्रियता की उम्मीद नहीं कर सकते।"[४]

आखिर सिनेमा व साहित्य में एक दृष्टिकोण को लेकर इतना अंतर क्यों है? दोनों ही कलाएं हैं और कलाएँ अभिव्यक्ति में अंतर नहीं करती हैं। इस प्रश्न की तलाश के लिए हमें सिनेमा के गहरे उतरना होगा; जो सिनेमा व साहित्य में तात्विक भेद उत्पन्न करता है। दलित साहित्य दलित लोगों के भोगे हुए यथार्थ का परिचय है, इसलिए दलित साहित्य सबसे पहले आत्मकथा विधा के माध्यम से प्रवेश करता है। किसी भी समाज या व्यक्ति का भोगा हुआ यथार्थ साहित्य की जिस विधा में पूरी परिपक्वता के साथ आ सकता है वह है- आत्मकथा विधा। दलित साहित्य अन्य विधाओं में भी आया किंतु थोड़े समय बाद। डॉ. जय प्रकाश कर्दम का विचार है- "समाज के जिस विद्रूप, बीभत्स, क्रूर और अमानवीय चेहरे पर गैर दलित लेखक पर्दा डालते आये थे और समाज जिस सच से साक्षात् नहीं करना चाहता था, इन

आत्मकथाओं ने समाज के उस नग्न सच को बेपरदा किया।"[५] सिनेमा में ऐसी कोई विधा नहीं है। जीवनी है, आत्मकथा है, कविता या कोई गीत या कोई उपन्यास जो कुछ भी है, सिनेमा के पर्दे पर प्रदर्शनीय है।

साहित्य को पाठकों तक पहुँचने में ज्यादा कठिनाई नहीं आती। इसकी प्रक्रिया में एक व्यक्ति का लेखन और बाद में उसका प्रकाशन शामिल हैं। वहीं सिनेमा में प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग व्यक्ति हैं। पटकथाकार कोई और है, निर्देशक कोई और; अभिनय कोई और करता है, तो संपादन कोई और, तथा बाद में फिल्म के प्रदर्शन के लिए बाज़ार की स्वीकृति। इन कई कारणों से फिल्मों में दलित दृष्टि न के बराबर है। दलित विमर्श जिस तरह अपना आकार ले रहा है, साथ ही कुछ सामाजिक स्थितियों में सुधार आ रहा है; वैसे हमें २१वीं सदी के दूसरे दशक में दलित वैचारिकी की सही मायने में ठीक-ठीकाने की दो-चार फिल्में अवश्य दिखती है- जैसे नीरज घायवान निर्देशित फिल्म 'मसान' जो एक हिन्दी फिल्म है, इसी तरह 'शुद्र द राइजिंग' संजीव जायसवाल के निर्देशन में बनी, विकास मिश्रा की 'चौरंगा' फिल्म भी उल्लेखनीय है। मराठी निर्देशक नागराज मंजुले अपनी फिल्म 'फैंड्री' और 'सैराट' के लिए विशेषकर जाने जाते हैं। अन्य भारतीय भाषाई फिल्मों में 'जय भीम' काफी लोकप्रिय रही। पा. रंजीत द्वारा निर्देशित फिल्में जैसे 'कबाली' (२०१६), 'काला' (२०१८); वेट्रिमारन द्वारा निर्देशित 'असुरन' (२०१९) फिल्म दक्षिण भारतीय फिल्में हैं, जो दलित दृष्टि को देखकर बनाई गई है। हाल के कुछ वर्षों में देखा गया है कि मराठी व अन्य दक्षिण भारतीय भाषाओं के सिनेमा में दलित विमर्श सही मायने में प्रस्तुत हो रहा है; हिंदी सिनेमा अभी भी इस मामले में काफी पिछड़ा हुआ है। २०२४ में आई दलित फिल्म 'संतोष' जो संध्या सुरी द्वारा निर्देशित है, एक चर्चा का विषय है। यह फिल्म काफी जगह पुरस्कृत हुई है, लेकिन विशेष बात यह है कि फिल्म की भाषा हिन्दी होने पर भी यह फिल्म है मूलतः भारतीय नहीं हैं। इस फिल्म को बनाने के लिए लगाया गया धन विदेशी निर्माताओं का है। यह विडंबना है कि यह फिल्म, ब्रिटिश फिल्म के तौर पर ऑस्कर में भेजी गई है, जिसमें धन को छोड़कर सबकुछ भारतीय है। "'संतोष', ९७वें अकादमी पुरस्कार के लिए सर्वश्रेष्ठ अंतर्राष्ट्रीय फीचर फिल्म श्रेणी में यूनाइटेड किंगडम की आधिकारिक प्रविष्टि, एक सशक्त, शक्तिशाली कथा है जो हिंसा, लैंगिक गतिशीलता और व्यक्तिगत सशक्तिकरण के विषयों की पड़ताल करती है।"[६] इससे साफ जाहिर है कि भारतीय समाज व बाजार में आज भी दलित विषय पर बनी फिल्मों को स्वीकृति नहीं मिल पाई है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सिनेमा में दलित विमर्श को साहित्य की तरह एक

दलित धारा स्थापित करने में अभी समय लगने वाला है। क्योंकि सिनेमा का दर्शक व बाज़ार दोनों ही दलित विमर्श के प्रतिकूल हैं। इस तरह साहित्य एवं सिनेमा की दलित दृष्टि में तात्विक भेद अवश्य है किंतु जब सिनेमा में दलित दृष्टिकोण बदलेगा, तब साहित्य व सिनेमा दोनों में दलित विमर्श का एक नया आयाम स्थापित होगा। या कहें दलित विमर्श को एक नई दिशा प्राप्त हो जाएगी। इस क्रम में दलित सिनेमा चाहे तो साहित्य से सहयोग भी ले सकता है, जिसमें दलित साहित्यिक रचनाओं पर भी कायदे की फिल्में समाज में प्रस्तावित की जा सकती हैं। डॉ. रमा लिखती हैं- "साहित्य एक ऐसी जमीन है जहां सिनेमा बार-बार लौटता है और अपनी पूरी चेतना के साथ लौटता है। सिनेमा के बनने की प्रक्रिया ही लेखन से आरंभ होती है। समाज में जो कुछ घट रहा है पहले साहित्य उसे कलमबद्ध करता है फिर सिनेमा के माध्यम से उसे प्रस्तुत किया जाता है।"[७] इस तरह दोनों के संयुक्त प्रयास से ही सामाजिक परिवर्तन सुनिश्चित किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओम प्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-२००१, पृ.-१५
२. वही, पृ.-३८
३. मीडिया, सिनेमा और समकालीन विमर्श, डॉ.. रमा, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-११५
४. नवनीत (हिन्दी डाइजेस्ट), हूबनाथ, अप्रैल-२०१०, पृ.-२०
५. नया मानदंड, (दलित आत्मकथा पर केन्द्रित अंक), जयप्रकाश कर्दम, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शोध संस्था दुर्गा कुंड, वाराणसी, २००३, पृ.-१५
६. https://en.themooknayak.com/women-news/santosh-the-uks-2025-oscar-entryheres-why-this-film-on-caste-injustice-gender-struggles-and-systemic-corruption-is-unmissable
७. हिंदी सिनेमा में साहित्यिक विमर्श, डॉ. रमा हंस प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका से

-(शोधार्थी)
हिंदी विभाग, गुजरात यूनिवर्सिटी
नवरंगपुरा, अहमदाबाद।
दूरभाष संख्या- ९६८०५ ८२५७३
Email- shekharchoudhary145@gmail.com